सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर आनन्दश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई- 283202 (आगरा) उ.प्र.

प्रकाशन तिथि : 01.09.2018 मूल्य – एक प्रति : 20/– , त्रिवार्षिक : 360/–

वर्ष : 51 अंक : 9 दिसम्बर 2018

अमृतकण

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च।
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिणः।।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च।
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमैः।।

अर्थात् जो शील और सदाचार से विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियों को काबू में कर रखा है, जो सरलतापूर्वक बर्ताव करता है और समस्त प्राणियों का हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धन का उपार्जन किया है– ऐसे गृहस्थ के लिए आश्रमों की क्या आवश्यकता है?

● ● ●

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

सत् ब्रह्म एक ही है, मेधावी लोग उस एक सत् तत्व को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामों से अभिहित करते हैं। सुन्दर पंख वाले तीव्रगामी गरुड़ भी वे ही हैं। उसी सत्व को यम, मातरिश्वा के नाम से भी कहते हैं। क्या वह सत्व (ब्रह्म) एक ही है या अनेक? नहीं, वह एक ही है और उसी एक तत्व के ही ये अनेक नाम और रूप हैं।

● ● ●

चित्रकर्म यथाऽनेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः।।

तूलिका के बार-बार फेरने से शनैः-शनैः जैसे चित्र अनेक रंगों से निखर उठता है, वैसे ही विधिपूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान से ब्राह्मणत्व का विकास होता है।

● ● ●

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च।।

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियों पर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुष को इहलोक और परलोक में कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र
श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 51
अंक 9

दिसम्बर
2018

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विषदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

कृत्स्नस्य योऽस्य जगतः सचराचरस्य,
कर्ता कृतस्य च तथा सुखदुःखदाता।
संसार हेतुरपि यः पुनरन्तकास्तं,
शकरं शरणदं शरणं व्रजामि।

अर्थात्

जो इस सम्पूर्ण चराचर जगत् के कर्ता और इसे अपने किए हुए कर्मो के अनुसार सुख–दुख देने वाले हैं, जो संसार की उत्पत्ति हेतु तथा अन्तराल भी स्वयं ही हैं, सबको शरण देने वाले उन्हीं भगवान शंकर की मैं शरण लेता हूँ।

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक : **आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी**

संयुक्त सम्पादक : **डॉ. विजय सिंह**

प्रबन्ध सम्पादक : **समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन**

इस अंक में ...

1.	**विशेष लेख** – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	**सम्पादकीय**	9
3.	**श्री मद्भागवत में योग–परिचर्चा**– डॉ. विजय सिंह	11
4.	**ईश की नम्बर मेरी है** – जगदीश राए बंसल	14
5.	**दिल पर न हो डायबिटिज का असर**	[illegible]
6.	**आचार्य श्री दासलाल जी महाराज का आगामी योग प्रचार कार्यक्रम**	17
7.	**जीवन में योग की उपादेयता** – श्री द्वारका प्रसाद शर्मा	18
8.	**प्राण–प्रवाहिनी नाड़ियाँ** – पातञ्जलि योग प्रदीप से	22
9.	**आश्रम समाचार** – दिव्य योग शिविर	24
10.	**मृत्यु–भय** – आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	25
11.	**चरकमुनिका अध्यात्म–दर्शन** – डॉ. सत्तनारायण श्रीवास्तव	29
12.	**योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी एवं निर्गाण चित्र**	36

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन	: रु.1000.00

विशेष लेख

निष्काम कर्मयोग

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मनुष्य के जीवन में कर्म–बन्धन एक ऐसा बन्धन है जिसके कारण वह जन्म और मरण के चक्कर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि–**अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।**

अर्थात् मनुष्य के जीवन में जितने शुभ और अशुभ कर्म होते हैं उनका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। आज वे जिन कर्मों का फल भोग रहे हैं, और यह कर्म फल भोगते हुए जिन–जिन प्राणियों का मेल–मिलाप उससे होता है, यह प्रक्रिया और भी नये–नये कर्मजाल को पैदा कर देती है। यही कारण होता है कि मनुष्य को फल–भोग के लिए यहाँ बार–बार जन्म लेना पड़ता है। तथा यही एक विशेष कारण रहता है कि मनुष्य जन्म–मरण के चक्कर से नहीं निकल पाता। किसी के प्रति भी अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का संस्कार जो बनता है, कालान्तर में वही संस्कार कर्म का रूप धारण कर जन्म का दाता बन जाया करता है और जन्म लेने के बाद फिर जिन प्राणियों के बीच में जन्म लिया है उनका प्रीति–प्यार, राग–द्वेष आदि कर्म समूह को पैदा करके उसके फलस्वरूप बार–बार जन्म लेता और बार–बार मरता रहता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वेद भगवान का उपदेश है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समाः एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरेः।

अर्थात्–मनुष्य को सौ वर्ष के जीवन के अन्दर कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार से कर्मरत रहने पर मनुष्य कर्म–जाल से ऊपर उठ जायेगा और कर्म फल–भोग के लिए उससे लिपायमान (संलग्न) नहीं होगा। अकारान्तर से यही बात अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने निष्काम कर्मयोग के रूप में कह डाली है। यदि अखिलात्मा के ही इस उपदेश को मनुष्य अपने जीवन में धारण कर ले तो वह अवश्य ही कर्म–बन्धन से परे हो जावेगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने उसे कर्म करने की बार–बार आज्ञा प्रदान की है। वे आदेश देते हैं–

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्

अर्थात्–हे अर्जुन तू कर्म कर जैसा कि पहले ऋषि–मुनियों ने भी किया है। किन्तु इस

पर ध्यान रख कि–

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्तेकर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यम् च विकर्मणः।
अकर्मश्च बोद्धव्यम् गहना कर्मणो गतिः।।
कर्मण्यकर्म यः पश्येद कर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म कृत्।।

अर्थात्–कर्म क्या है? और अकर्म क्या है इस बात का निष्कर्ष निकालने के लिए बड़े–बड़े विद्वान भी संशयग्रस्त होकर मोहित हो गये हैं। इसलिए हे अर्जुन मैं तुझे वह कर्म तत्व बतलाता हूँ जिसको जान करके तू सब प्रकार के पापों से छूट जावेगा। तू भली प्रकार से मन लगाकर कर्म को समझ ले। क्योंकि कर्म की गति बहुत ही गहन है। सहज ही जानी नहीं जा सकती। वह मनुष्य बुद्धिमान है जो कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे। जो व्यक्ति इस कर्म सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सब कर्म शुभ से शुभतर हो जाते हैं। सब प्रकार की सफलता उसके सामने आने लगती है। कर्म और अकर्म के इस सिद्धान्त को समझ लेना ही बहुत बड़ी बुद्धिमानी की बात है। यह समझ ही तुझे जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा दिला पायेगी।

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का यह उपदेश गीता के तीसरे अध्याय में आया है। दूसरे अध्याय के अन्त में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।

अर्थात्–मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ करके जो मनुष्य बिल्कुल इच्छा रहित होकर विचरता है एवं निःरहंकार और निर्मम रहता है वह शाश्वत शान्ति को पा जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन के मन में शंका पैदा हो गई क्योंकि अर्जुन उनके पवित्र भावों को नहीं समझ सका था, इसलिए शंकास्पद होकर उसने बिल्कुल स्पष्ट यह कह डाला–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्कि कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिर्मोहयसीव मे।
तदेकंवद निश्चित्येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

अर्थात्–हे अखिलात्मा यदि आप अकर्म को ठीक समझते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में

क्यों लगाते हो। इस प्रकार से आप मिले-जुले सिद्धान्तों को बतलाकर मेरी बुद्धि को भ्रमित सी कर रहे हैं। इसलिए निश्चय करके यथार्थतः सिद्धान्त की बात कहो। जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ। अर्जुन की यह बात सुनकर भगवान ने अपना मनोभाव समझाने के लिए उसे उत्तर दिया–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समाधिगच्छति।।
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।

अर्थात्–हे अर्जुन! इस संसार में दो प्रकार से इस सिद्धान्त को पहले समझाया गया है। सांख्य शास्त्र का अनुगमन करने वाले लोगों को ज्ञान योग के द्वारा तथा योगियों को कर्म योग के द्वारा। संसार में कैसा भी मनुष्य क्यों न हो वह कर्मों को आरम्भ किये बिना निष्कामता को प्राप्त नहीं कर सकता और जो लोग कर्म मीमांसा को न समझ करके कर्म संन्यास कर बैठते हैं वे लोग सिद्धि को नहीं पा सकते। क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई भी मनुष्य जन्म लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त भाव से बैठा रहे। प्रकृति स्वयं ही उनसे कर्म करवा लेती है। इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को न समझ करके कोई व्यक्ति यदि कर्मेन्द्रियों का संयमन करके इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता है तो वह भी मिथ्याचारी अर्थात्–दम्भी कहा जाता है और जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर मन से नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर के कर्म करता है वह श्रेय की ओर बढ़ जाता है। इसलिए हे अर्जुन तू शंका छोड़कर के बिल्कुल निश्चित् मन से कर्म कर। क्योंकि कर्म के द्वारा ही निष्कर्मता को मनुष्य प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को एक तात्विकी बात यह बतलाई कि–

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।

अर्थात्–जो मनुष्य कर्म के अन्दर अकर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है, वही यथार्थता को जानता है वही बुद्धिमान तथा योगी होता है। कर्म के अन्दर अकर्म को देखने का अर्थ मनुष्य नेकी करे और कुएँ में उसे डाल दे अर्थात् दान, पुण्य, तप और स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट कर्म करे परन्तु इनके फल की इच्छा बिल्कुल न करे। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना। कर्म करते हुए कर्म फल की इच्छा न करना ही अकर्मता है। कर्म कहलाता ही वह है जिसमें मन के अच्छे या बुरे संकल्प जुड़े रहते हैं। मन के अच्छे बुरे संकल्प ही कर्म संविधान के जनियता हैं। यदि कर्म करते हुये मनुष्य के मन में उनके फल की कोई इच्छा नहीं है तो वह कर्म, कर्म नहीं कहलायेगा। वह अकर्म ही होगा। जैसे एक मनुष्य चलते–फिरते, उठते–बैठते अपने मुख नासिका तथा हाथ पैर आदि को हिलाता है, किन्तु उसको यह ज्ञान नहीं रहता कि मैंने यह हाथ क्यों हिलाया? पैर में हरकत क्यों दी? वैसे यह हरकतें क्रियात्मक कर्म तो बन ही जाती हैं किन्तु इन हरकतों में अच्छे–बुरे का कोई सम्बन्ध नहीं रहता अतः यह हरकतें क्रियात्मक होने पर भी कर्म नहीं कहलातीं। इसी प्रकार से जो मनुष्य बड़े–बड़े दान पुण्यादि कर्म करता है और हरयाणा की लोकोक्ति के अनुसार 'नेकी करो और कुँएं में डाल दो' के सिद्धान्त को सामने रखता है तो वास्तव में वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना।

दूसरा विषय है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना अर्थात्–जो मनुष्य कृतकृत्य हो चुका है जिसकी सब वृत्तियों का पूर्ण रूपेण शमन हो चुका है उसे कुछ भी करना अवशेष नहीं है। उसका संसार में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं वह कोई कर्म करे या न करे यह उसकी अपनी इच्छा है। योग–दर्शन का सिद्धान्त है कि सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा में जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो जाती है उस पर कोई भी कर्म–लेप लागू नहीं होता। सूत्र है–

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।

योग द० १/५०

अर्थात्–ऋतम्भरा प्रज्ञा के आ जाने के बाद केवल मात्र उसके ही संस्कार अवशेष रहते हैं। अन्य सभी संस्कार वहाँ रुक जाया करते हैं। इसलिये जो व्यक्ति सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है उसकी गति ऐसी हो जाती है कि वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसी स्थिति आ जाने के बाद क्या मनुष्य को सभी कर्म–कलापों का त्याग कर देना चाहिए? नहीं यह उचित नहीं, उसको पूर्णता प्राप्त होने पर भी लोक–व्यवहार हेतु कर्म करना ही चाहिए। क्योंकि–

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थात्–महान पुरुष जैसा–जैसा कर्म करते हैं लोक में इतर लोग वैसा–वैसा ही अनुकरण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इस विषय में स्वयं अपने आपको उदाहरण रूप से रखा, और कहा–

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।
यदिह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमा प्रजाः।।

अर्थात्–हे अर्जुन! तीन लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ और बड़ी लगन के साथ करता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ तो प्रजा के नाश करने का कारण बन जाऊँगा। इसलिए कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाने के बाद भी लोकाभिनय को सामने रखते हुए मनुष्य को कर्मरत रहना चाहिए। इसी का नाम है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना। मनुष्य अपने जीवन में कृतकृत्यता को पाकर भी अपने आपको कर्मरत रखे। यही कल्याण का मूल साधन है और सभी लोग इस सिद्धान्त को अपनाकर कर्म करते हुए निष्कर्मता को पा जाया करते हैं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने बार–बार दोहरा कर इसी सिद्धान्त को कहा है–

पाँचवें अध्याय के आरम्भ में इसी सिद्धान्त को न समझने के कारण भगवान से अर्जुन ने फिर प्रश्न किया–

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।

अर्थात्–हे अखिलात्मा आप कर्म संन्यास की बात करते हैं और फिर कर्मयोग की पुष्टि करते हैं। अतः इन दोनों में से जो भी श्रेष्ठ है और कल्याणकारी है, निश्चय करके वही सिद्धान्त मुझ से कहें। भगवान ने पुनः और अधिक स्पष्टीकरण के साथ उत्तर दिया–

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।
सांख्योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।

अर्थात–हे अर्जुन! कर्म सन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं किन्तु इन दोनों में से कर्म सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट है। उस व्यक्ति को नित्य ही सन्यासी समझना चाहिए जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की कामना करता है वह निर्द्वन्द्व रहकर सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है।

हे महाबाहो अर्जुन! सांख्य और योग को अज्ञानी बाल–बुद्धि वाले न्यारा–न्यारा कहते हैं। इन दोनों में से किसी एक का भी जो अनुसरण कर लेता है वह दोनों के फल को पा जाता है। किन्तु एक विशेष बात है वह यह कि बिना योग के सन्यास को प्राप्त कर लेना बहुत ही कठिन है और योग युक्त मुनि तत्काल ब्रह्म को पा जाता है।

इस प्रकार से भगवान ने निष्काम कर्मयोग को पूरी तरह से स्पष्टता के साथ समझा दिया। अन्त में निष्कर्ष की बात यही आती है :

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

कोई अपमान तुम्हें गिरा नहीं सकता तुम अपना पतन अपने आप ही करते हो।

—अज्ञात

सम्पादकीय—

योग विद्या से ही आत्म विकास संभव है!

—आचार्य डॉ. दासलाल जी महाराज

'योग' आध्यात्मिक ग्रन्थों में एक अति व्यापक शब्द है। सभी मत व सम्प्रदाय के मानने वाले आचार्यों ने इसे माना है। भारतीय दर्शन का मूलाधार योग है जिस प्रकार से प्राण के बिना शरीर का अस्तित्व नहीं रह सकता है इसी प्रकार से योग अध्यात्म का प्राण है।

योग को ही अध्यात्म विद्या, ब्रह्म विद्या, परा विद्या कहा जाता है। भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र के मुखारविन्द से निःसृत अमृत वाणी गीता योग का ही गुणगान करती है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस अमरविद्या का अवलम्ब लेकर तत्वज्ञान को पाया है।

अर्वाचीन काल के योगियों ने इसे समझा, माना और जीवन में इसे आत्मसात करके महानता के शिखर को पाया है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी योगानन्द परमहंस प्रभृति आधुनिक काल के योगियों ने इस अमरविद्या का विश्व में प्रचार करके भारत को विश्वगुरु के पद पर प्रतिष्ठित किया है।

योग क्रिया का नाम नहीं है। यह एक अविनाशी विद्या है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में भगवान ने इसे ''अव्यय योग'' नाम से अभिहित किया है। सृष्टि के आदि से ही यह अमर विद्या परम्परागत रूप से चली आ रही है। भगवान् ने इसका सर्वप्रथम सूर्य को उपदेश दिया है। सूर्य ने मनु को तथा मनु ने इसे इक्ष्वाकु आदि राजाओं को दिया है। मानव का धर्म योग ही है जिसने सम्पूर्णतया इसे जीवन में अंगीकार किया उसी का जीवन धन्य हुआ है।

योग से ही मनुष्य अमृत्व को प्राप्त हुआ करता है। वैसे तो शास्त्रों में आता है अमृत को पीकर देवता अमर हो जाते है किन्तु अमर होने का तात्पर्य दीर्घजीवी होने से है। गीता के अनुसार पुण्य के क्षीण हो जाने पर मर्त्यलोक में उन्हें भी आना पड़ता है। इसलिये यदि कोई

वस्तु जीव को अमर कर सकती है वह योग ही है। जीव को पावन बनाने वाली इस से बढ़कर कोई और विद्या नहीं है, न ही योग से बढ़कर संसार में कोई बल या शक्ति है। विद्याओं में अध्यात्म विद्या को सर्वश्रेष्ठ माना गया है वह योग ही है! आत्मोत्थान का अचूक उपाय जैसा योग है अन्य कोई नहीं है। इस उपाय से मनुष्य निरन्तर विकास की ओर चलकर निश्चित रूप से अपने परमलक्ष्य तक पहुँच जाता है।

योग को जीवन में किस प्रकार उतारा जाये इसके अनेक साधन है किसी एक साधन का अवलम्ब लेकर साधक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है। महर्षि पतञ्जलि जी ने योग–दर्शन में **'समाधिः वै योगः'** कहकर समाधि को ही योग कहा है। मन की स्थिति को समत्व में रखते हुये किस प्रकार साधक आगे बढ़ सकता है इस बात का संकेत देते हुये भगवान् कृष्णचन्द्र जी ने फलासक्ति को छोड़कर योगस्थ होकर कर्म साधना करते रहने का उपदेश दिया है जिसे कर्मयोग की साधना मानते हैं। सांसारिक कार्यों को करते रहने का नाम कर्मयोग नहीं है। वे कर्म जो योग की सिद्धि (लक्ष्य) के लिये सहायक हो वही कर्म योग है। दूसरे शब्दों में योग के लिये कर्म करना। सांसारिक कर्मबन्धन के विच्छेद का उपाय कर्मयोग है। कर्मयोग की मुख्य साधना ध्यान योग है। ध्यान योग से ही कर्मफल का त्याग हो सकता है जिससे जीव को अखण्ड शान्ति मिला करती है।

योग साधना से साधक उ. नी बिखरी हुई चेतना शक्ति को एकत्रित करते हुये लक्ष्य की ओर बढ़ता है। आत्मज्ञान का योग ही मुख्य उपाय है। इसी से ऋतम्भरा ज्ञान का उदय होता है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने ऋतम्भरा ज्ञान को अपने अन्दर प्रकट किया। इसी से वे मन्त्रदृष्टा तथा तत्ववेत्ता हो गये। ऋतम्भरा ज्ञान **विवेक ख्याति** को देने वाला होता है। इसके उदय होने पर भी योगी के सम्पूर्ण कर्म दग्धबीज हो जाते हैं और योगी जन्म–मरण के आवर्तन से मुक्त हो जाता है। इसलिये मनुष्य को योगी बनना चाहिए यही आज्ञा अर्जुन के माध्यम से भगवान् ने सबको दी है।

|| ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः ||

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्चा

डॉ. विजय सिंह

प्रलम्बासुर के उद्धार के पश्चात् ग्वाल-बाल अपनी मस्ती में लग गये। इधर उनकी बकरियाँ, गाय और भैंसे एक वन से चरते-चरते दूसरे वन में पहुँचकर गर्मी से व्याकुल हो उठी। अन्त में सरकंडो के वन में जा घुसी। (यहाँ स्पष्ट रूप से गाय, भैंस और बकरियों का विवरण आया है)

अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम्।
इषी काटवी निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः ||२||

अ० 19 स्क० 10 पूर्वार्ध

ग्वाल-बालों ने जब गौओं को चरते नहीं देखा तो वे श्रीकृष्ण के साथ खोजते-खोजते मुंजावटी (सरकंडों के वन) में उन्हें पाया। उनको हाँकते हुये लौटाने की चेष्टा में सभी प्यासे हो गये। भगवान कृष्ण ने गायों को पुकार रहे थे कि उसी समय दावाग्नी भड़क उठी। दुर्दैव उस समय आँधी चलने के कारण चतुर्दिक अग्नि ने सबको घेर लिया। घबराये ग्वाल-बालों ने श्रीकृष्ण से कहा-महावीर! कृष्ण इस दावानल से हम सबों को बचाओ।

सखाओं की दीनतापूर्वक कही बात को सुनकर भगवान ने कहा-''तुम सभी अपनी आँखे बन्द कर लो। आज्ञा का पालन करते हुये सभी ने आँखें बन्द कर लीं। तब योगेश्वर कृष्ण ने भयंकर अग्नि को अपने मुख से पीकर सबों को घोर संकट से बचा लिया।

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
तीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्।।

श्लो० 12 अ० 19 स्क० 10 पूर्वार्ध

जब ग्वाल-बालों ने आँख खोली तो वे अपने गौवों के साथ भाण्डीर वट के पास सुरक्षित पाया। वे अत्यन्त विस्मित हो उठे। श्रीकृष्ण की इस योगेश्वर्य की महिमा देख ग्वालों ने सोचा श्रीकृष्ण अवश्य कोई देवता हैं।

कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम्।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम्।।14।।

अ० 19 स्क० 10 पूर्वार्ध

दसम् स्कन्ध के पूर्वार्ध के 20वें अध्याय में वर्षा और शरद् ऋतु का वर्णन काव्यमय है। वर्षा ऋतु में हवा के झोंकों से समुद्र उत्ताल तरंगों से युक्त हो रहा था। अब नदियों के संयोग से और क्षुब्ध हो उठा—ठीक वैसे ही जैसे वासना युक्त योगी का चित्त विषयों का संयोग होने पर कामनाओं के उभार से भर जाता है—

सरिद्भिः सङ्गतः सिंधुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा।।

श्लो० 14 अ० 20 स्क० 10 पूर्वार्ध

शरद ऋतु में कमलों की उत्पत्ति से जलाशयों के जल ने अपनी सहज स्वच्छता प्राप्त कर ली जैसे योगभ्रष्ट पुरुषों का चित्त फिर से योग का सेवन करने से निर्मल हो जाता है।

शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया।।33।।

अ० 20 स्क० 10 पूर्वार्ध

शरद ऋतु में जल स्थिर, गम्भीर और शांत हो गया। जैसे मन के संकल्प—विकल्प रहित होने पर आत्माराम पुरुष कर्मकाण्ड का झमेला छोड़कर शान्त हो जाता है। किसान अपने खेतों की मेड़ मजबूत करके जल का बहना रोकने लगे—जैसे योगीजन अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोककर, प्रत्याहार करके उनके द्वारा क्षीण होते ज्ञान की रक्षा करते हैं—

निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं समुद्रः शरदागमे।
आत्मन्युपरते सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः।।40।।
केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः।
यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः।।41।।

अ० 20 स्क० 10 पूर्वार्ध

इक्कीसवें अध्याय में वेणुगीत का वर्णन है। ''रसो वै सः'' परमात्मा रस (आनन्द) रूप है। मानव शरीर धारी, कृष्ण बिहारी स्वयं रस राज हैं। ब्रज की गोपियों के बारे में पहले ही कहा जा चुका है कि वेदों की ऋचायें, अनेक ऋषि पुंगव जो निर्विकल्प की प्राप्ति के बाद पश्चिम मार्ग को त्याग हृदय गह्वर में रस संधान से तृप्त नहीं हुये थे, वे ही गोपी रूप में प्रकट हो ब्रजबिहारी के सानिध्य को पाकर प्रेम योग सहज पा चुकी थीं।

अतः अब आगे के अध्यायों को ठीक–ठीक हृदयांगम् करने हेतु सुधी पाठक! सतोप्रधान बुद्धि धारण करना होगा। योग दर्शन का सूत्र **''अभिमत् ध्यानद्वा''** का पूर्ण प्रमाण गोपियों एवं भगवान श्रीकृष्ण के सानिध्य प्रसंग में निहित है।

जिस समय श्रीकृष्ण बाँसुरी पर नाद ब्रह्म का संधान करते हैं। जड़–चेतन सभी आन्तरिक परिवर्तन के सहज भागी बन जाते हैं। अस्तु! गोपियाँ वेणु वादन सुनकर प्रेम से पगी, मन मस्त हो उठतीं। वंसी के माध्यम् से उन सबों को श्रीकृष्ण की चेष्टाओं तथा प्रेमपूर्ण चितवन, भौहों के इशारों के साथ मधुर मुस्कान का हठात स्मरण होने लगता था। उनका मन उनके वश मे नहीं होता वे चिंतन में श्रीकृष्ण के सानिध्य में पहुँच जातीं। वे तन्मय अवस्था में श्रीकृष्ण को पाकर आलिंगन करने लगीं।

जार–भाव से ही गोपियों का प्रेम था परन्तु वह प्रेम परात्पर श्रीकृष्ण में था। अग्नि का स्पर्श जान में हो अनजान में हो, प्रभाव दाहक ही होगा।

जिस समय श्रीकृष्ण मुनिजन मोहनी मुरली बजाते है, तब मोर मतवाले होकर तालबद्ध नृत्य करने लगते हैं। मूढ़ योनि वाली हरिनियाँ भी वंशी की तान से खींची नन्दनन्दन के पास आकर एक टक अपनी बड़ी–बड़ी आँखों से उन्हे निरखती रहती हैं। जिसने भी प्रेमस्वरूप श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि सुन ली वह अपना हृदय उनके चरणों पर निछावर कर दिया।

सच तो यह है कि बाँसुरी की तान छेड़ते ही, मनुष्यों की तो बात ही क्या, चेतन पशु–पक्षी और जड़ नदी सभी स्थिर हो जाते है, अचल वृक्षों को भी रोमांच हो आता है। जादूभरी वंशी के अनेक सः चमत्कार हैं।

''नास्ति नाद सदृशो लयः'' मन को एकाग्र करने का सहज साधन भाव–युक्त नाद ही है। संकीर्तन इत्यादि समुधुर वाद्यों के साथ समवेत स्वर से किया जाये तो ध्यान अपने आप लगता है।

।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

ईब कै नम्बर मेरौ है

जगदीश राए बंसल 'अधम' 9212434003

के बताऊँ गुरुदेव तनै, सब बातां का बेरा सै
सारे जग के काज समारै, ईब कै नम्बर मेरा सै

मेरे जांणें पछाणें गुरु भाइयाँ का, तनै काम बणाया सै
किसे नै गाड़ली दुमंजली कोठी, किसे नै बंगला सजाया सै
चाहे खुद आ कै देख ले दाता, मेरा दो कमरां का डेरा सै।
सारे जग......................1

दोनूं हाथं लुटा रहे खजाने, भण्डारे फेर बी भरे पड़े
हम सादी रोटी चटणी खा कै, कमा कमा कै मरे पड़े
इब कै नौंमी के भण्डारे का, मेरा जुगाड़ बणाणा सै।
सारे जग......................2

मेरे दिल की धड़कन से स्वामी, तेरा नाम लिकड़ता है
हे सिद्धेश्वर जी तेरे दर्शन को, सारा परिवार तड़फता है
पार्थ के सारथी मेरे गुरु जी, विराट रूप दिखाणा सै।
सारे जग......................3

किसे सुणाऊँ कोण सुनेगा, इस अधम की यह पीड़ा
घायल का दिल घायल जाणै, दिखा दूँ हृदय में दे चीरा
अमृत सागर हे मेरे देवा, मनैं काया कल्प कराणा सै।
सारे जग......................4

दिल पर न हो डायबिटीज का असर

डायबिटीज कई गंभीर बीमारियों को जन्म दे सकती है। डायबिटीज वालों में हाई ब्लड प्रेशर की समस्या भी अधिक होती है। आम लोगों की तुलना में डायबिटीज वालों में यह समस्या दोगुनी होती है। डायबिटीज के साथ अगर कोई व्यक्ति मोटापे से ग्रस्त हो, तो हाई ब्लडप्रेशर का खतरा और अधिक बढ़ जाता है।

अनियंत्रित स्थिति में डायबिटीज कालांतर में आँखों की समस्या (डायबिटिक रेटिनोपैथी), किडनी से संबंधित समस्या गैंगरीन की समस्या उत्पन्न कर सकती है। गैंगरीन के कारण अंग–भंग की स्थिति आ सकती है।

वहीं अधिक वजन, व्यायाम नहीं करने, पारिवारिक इतिहास और तनाव से डायबिटीज होने की आशंका बढ़ जाती है। ब्लड सुगर स्तर के लगातार अधिक रहने पर हृदयवाहिका (ब्लड वेसल्स) सम्बन्धित समस्याएँ और न्यूरोपैथी नामक समस्या के उत्पन्न होने का खतरा है।

डायबिटीज के मरीजों को कोरोनरी हृदय रोग और स्ट्रोक होने का खतरा गैर डायबिटीज वाले व्यक्तियों की तुलना में चार गुना अधिक होता है। इसके अलावा गर्भवती महिलाओं और उनके गर्भ में पल रहे अजन्मे शिशु के लिए डायबिटीज (जेस्टेशनल डायबिटीज) अधिक खतरनाक होती है। ऐसे में डायबिटीज पर नियंत्रण रखना आवश्यक हो जाता है ताकि गम्भीर बीमारियों के होने के खतरों को टाला जा सके।

हृदय रोग के लक्षणों का प्रकट न होना

डायबिटीज के अनेक मरीजों में कोरोनरी हृदय रोग के लक्षण स्पष्ट तौर पर नजर नहीं आते हैं। कई मरीजों को तो दिल का दौरा पड़ने पर भी सीने में दर्द महसूस नहीं होता है इसलिए दर्द नहीं होने पर भी साँस फूलने, दिल की धड़कन के तेज होने, अस्वाभाविक घबड़ाहट होने, पसीना आने और उबकाई या जी मिचलाना जैसी समस्याएँ होने पर तत्काल डाक्टर से सलाह लेनी चाहिए। इसके अलावा लोगों को नियमित रूप से चिकित्सकीय जाँच करानी चाहिए ताकि हृदय रोगों की आशंका का पहले से पता चल सके।

डायबिटीज के कुछ मरीजों में कोरोनरी धमनियों के स्वस्थ होने के बावजूद उनका हृदय कमजोर पड़ जाता है। ऐसे लोगों की मांसपेशियों में रक्त को पम्प करने की शक्ति नहीं रहती है। ऐसी स्थिति में हृदय फैल कर बड़ा हो जाता है। इसके इर्द–गिर्द और फेफड़े में पानी भर जाता है। रोगी की साँस फूलने लगती है, उसे थकान रहती है, पैरों में सूजन आ जाती है और दिल की धड़कन बढ़ जाती है। ये लक्षण धीरे–धीरे बढ़ते जाते हैं, जिन्हें डायबिटीज कार्डियोमायोपैथी कहा जाता है। डायबिटीज कार्डियोमायोपैथी की समस्या में उपयुक्त दवाओं और चिकित्सकीय सलाह की मदद से मरीजों को राहत दी जा सकती है, लेकिन हृदय की शक्ति की वापसी के लिए ऑपरेशन ही एकमात्र रास्ता है।

कार्डियोमायोप्लास्टि नामक ऑपरेशन के तहत कुछ माँसपेशियों का प्रत्यारोपण करके दिल को मजबूती प्रदान की जाती है। कई मामलों में बाइपास सर्जरी या हृदय प्रत्यारोपण की जरूरत पड़ सकती है।

विचारणीय समस्या

देश में वयस्कों और बच्चों में डायबिटीज तेजी से फैलती जा रही है। डायबिटीज के तेजी से फैलने के लिए व्यस्त और भागमभाग वाली जिन्दगी, तनावपूर्ण जीवनशैली और आनुवांशिक कारण मुख्य तौर पर जिम्मेदार हैं।

हालांकि टाइप–1 डायबिटीज की रोकथाम नहीं की जा सकती है, लेकिन टाइप–2 डायबिटीज अस्वास्थ्यकर जीवन–शैली से सम्बन्धित है। टाइप–2 डायबिटीज को स्वास्थ्यकर खान–पान के जरिए, वजन को काबू में कर और नियमित व्यायाम कर नियंत्रित किया जा सकता है। गौरतलब है कि डायबिटीज वालों को स्वयं को असहज महसूस करने पर अपने ब्लड–प्रेशर की जाँच जरूर करनी या करानी चाहिए।

हृदय पर दुष्प्रभाव

डायबिटीज का शरीर के जिन महत्त्वपूर्ण अंगों पर दुष्प्रभाव पड़ता है, उनमें हृदय प्रमुख है। सवाल यह है कि डायबिटीज का आखिर हृदय पर असर क्यों पड़ता है? दरअसल हमारा हृदय मुख्य तौर पर मांसपेशियों से बना हुआ पम्प है, जो पूरे शरीर में फैली धमनियों के संजाल के माध्यम से शरीर के हर अंग–प्रत्यंग में रक्त और ऑक्सीजन भेजता है।

हृदय को अनवरत काम करने के लिए हर समय ऑक्सीजन और शुद्ध रक्त की जरूरत होती है। किसी कारण से हृदय को होने वाली इस आपूर्ति में कमी या रुकावट आने पर मायोकार्डियल इनफार्किशन, एंजाइना और दिल के दौरे जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

डायबिटीज के कारण हृदय को रक्त और ऑक्सीजन की आपूर्ति करने वाली धमनियों में वसा के जमाव की प्रक्रिया तेज हो जाती है। सामान्य लोगों की तुलना में डायबिटीज के मरीजों की रक्त धमनियों में चर्बी या वसा के जमने या संचित होने की प्रक्रिया (एथेरोस्क्लीरोसिस) अधिक तेज होती है। इससे धमनी का रास्ता तंग हो जाता है और उसमें रक्त प्रवाह कम हो जाता है। इस स्थिति में कोरोनरी हृदय रोग पैदा होते हैं।

डायबिटीज को दूर करने के लिए योग साधनों में आसनों का अभ्यास आवश्यक है। आसन, व्यायाम व लम्बी दूरी की सैर करने से मांसपेशियाँ मीठे को अवशोषित कर लेती हैं और इसका सदुपयोग होकर शरीर में ऊर्जा के रूप में बदल जाती है। जीवन तत्व साधन की क्रियाओं में नाभि चालन 1/2 घण्टा प्रतिदिन किया जाये तो अवश्य लाभ होता है।

भूमि आंवला नामक पौधे को पंचाङ्ग सहित कूटकर प्रातः सायं एक–एक चम्मच ताजे जल के साथ लेने से बहुत लाभ होता है। करेला, जामुन का बीज आदि प्रयोग में प्रायः ही लाये जाते हैं। रोगी को कटु खाद्यान्न का प्रयोग अधिक करना चाहिए।

डायबिटीज स्वयं की अनियमितता से पनपने वाला रोग है। मोटे व्यक्तियों को प्रायः हो ही जाता है। अतः रोगी को अपना वजन कम करना चाहिए। और ऐसा कुछ शारीरिक श्रम करते रहना चाहिए जिससे मीठे तत्वों की शर्करा की खपत होती रहे और इस रोग से बचा जा सके ताकि व्यक्ति हृदय, गुर्दे व जिगर आदि के असाध्य रोगों से बच सकें।

आचार्य श्री दासलाल जी महाराज का आगामी योग प्रचार कार्यक्रम

1. 10 दिसम्बर से 14 दिसम्बर तक तय्यबपुर कमालपुर (कासगंज)।
2. 28 दिसम्बर, 2018 से 1 जनवरी 2019 तक
   नृसिंह कालोनी योगाश्रम गंगापुर सिटी, राजस्थान

विशेष–दिनांक 31 दिसम्बर 2018 को प्रातः 9 बजे से नगर शोभायात्रा का बड़ा ही भव्य आयोजन रहेगा जिसमें कई प्रान्तो के हजारों साधक भाग लेकर सत्संग का लाभ लेंगे। भव्य झांकी में आनन्द कन्द महाप्रभु जी एवं गुरुदेव के दिव्य स्वरूप विराजमान होंगे। यह शोभायात्रा दिन के एक बजे तक चलेगी।

जीवन में योग की उपादेयता

श्री द्वारका प्रसाद शर्मा (लखनऊ)

हमारे मनीषी–विचारकों, सन्तों, महात्माओं तथा धर्मग्रन्थों ने मनुष्य जीवन की दुर्लभता के विषय में बारम्बार हमें स्मरण कराया है। उसका कारण सर्वविदित है कि अन्य जितनी भी योनियाँ हैं, चाहे वह देवयोनि ही क्यों न हो, वे सभी भोगयोनि की कोटि में आती हैं। मात्र मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है जिसे प्राप्त कर मनुष्य अपने उद्यम व प्रयत्न के बल पर अपनी उन्नति के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य योनि में भी पूर्व जन्मों में किये गये कर्म–संस्कारों को भोगना पड़ता ही है, परन्तु यह भी तथ्य निर्विवाद है कि मनुष्य के साथ इस बन्धन के होते हुए भी वह अपनी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग को स्वयं प्रशस्त करने की ओर प्रयास करने के लिए स्वतन्त्र है। यह शास्त्र–सम्मत सत्य है कि मनुष्य का जीवन अत्यन्त भाग्य से प्राप्त होता है तथा इस मनुष्य जीवन को प्राप्त करने पर जो इसका सदुपयोग, सांसारिक प्रपञ्चों में न पड़कर, आत्मोन्नति के प्रशस्त मार्ग की ओर अग्रसर होने हेतु करने लग जाता है, वही पुरुष धन्य है तथा उसका मनुष्य जीवन धारण करना भी सार्थक एवं सफल हो जाता है। श्रीमद्भागवत में मनुष्य जीवन के विषय में निम्नलिखित श्लोक कितना प्रासंगिक एवं समीचीन है–

नृदेहमाद्यं परमं सुदुर्लभं, पुनः पवित्रे च कुलेऽपि जन्म।
लब्ध्वा गुरुं कर्णधारं च तत्र, पुमान् भवाब्धिं च तरेत स आत्मेहा।।

इसका अर्थ यह है कि पहले तो नरदेह की प्राप्ति ही अत्यन्त दुर्लभ होती है। उसके पश्चात् पवित्र कुल में जन्म प्राप्त होना भी उतना ही दुर्लभ संयोग होता है। और फिर एक कर्णधार के सदृश यदि गुरु प्राप्ति हो जाये, इस पर भी जो मनुष्य इस भवसागर को न तरे या पार न कर पाये तो उस मनुष्य को आत्महन्ता (आत्म–हत्यारा) ही कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए, कौन–सा मार्ग अत्यन्त उपादेय तथा आत्मोत्कर्ष के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। यह तो सार्वभौम रूप से शाश्वत सत्य है कि मनुष्य जीवन का चरमलक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, अर्थात् आवागमन के चक्र से सर्वथा मुक्ति। हमारे धर्मशास्त्रों में इसी लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त पथप्रदर्शन किया गया

है तथा अनेक मार्गों के माध्यम से इसी गन्तव्य लक्ष्य की ओर अग्रसर होने तथा प्राप्ति के साधन रूप विभिन्न पर्थों के अवलम्ब के आदेश धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। हमारे मनीषियों ने भी 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' के सिद्धान्त के अनुसार अनेक प्रकार के मार्गों का अन्वेषण कर हमें दिशा निर्देश दिये है। जैसे जिस किसी भी पन्थ में जिस किसी भी व्यक्ति विशेष की रुचि हो, वह उसे अपनाकर अपने अभीष्ट गन्तव्य को प्राप्त कर सकता है।

तात्त्विक एवं शाब्दिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो 'योग' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। योग का अर्थ है जोड़ना। आध्यात्मिक अर्थ में इसका अर्थ आत्मा को परमात्मा से जोड़ना है। इस आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण, निष्काम कर्म, भक्ति तथा ज्ञान के माध्यम से किया जा सकता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी प्रथम छः अध्यायों में निष्काम कर्मयोग, द्वितीय छः अध्यायों में भक्तियोग तथा तृतीय छः अध्यायों में ज्ञानयोग के द्वारा इसका प्रतिपादन हुआ है। यद्यपि यह भी निर्विवाद है कि निष्काम कर्म, भक्ति तथा ज्ञान, ये तीनों एक-दूसरे से सम्पृक्त हैं अर्थात् अन्योन्याश्रित ही हैं, एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते। यदि भक्ति है तो ज्ञान का उदय अवश्यम्भावी है। यदि निष्काम कर्मयोग में सिद्धता प्राप्त है तो अवश्य ही उस मनुष्य में ज्ञानोदय तथा भक्ति का सम्पुट निश्चित रूप से विद्यमान होगा। तो इस प्रकार निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग के द्वारा विविध रूपों का दिग्दर्शन योग-योगेश्वर अखिलात्मा श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कराया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं तथापि हमें इनमें से भी एक प्रशस्ततम् तथा उत्कृष्ट पथ का अवलम्बन लेकर अपने जीवन को सार्थक एवं सबल बनाना है। मनुष्य मात्र की रुचि वैचित्र्य के अनुसार ही उनमें से किसी योग-विशेष का समाश्रय व्यक्ति विशेष के लिए लाभकर होगा। यह आप्तकाम सिद्धगुरु ही निर्धारित कर सकते हैं तथा उनके द्वारा प्रदत्त दीक्षा का क्रम व्यक्ति विशेष के उत्थान के लिए एक सुन्दर सोपान का कार्य करता है। किसी व्यक्ति के लिए निष्काम कर्म करना ही सिद्धदाता होगा। किस व्यक्ति के लिए इष्टदेव की आराधना एवं भक्ति ही सकल सिद्धि-प्रदायिनी होगी तो किस व्यक्ति विशेष के लिए ज्ञान का अवलम्बन लेकर मोक्ष-मार्ग सुकर होगा। अखिलात्मा योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने मुखारविन्द से एक स्थान पर 'गीता' में संकेत किया है-

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केच्चिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन, कर्मयोगेन चापरे।।
अन्ये त्वेवमजानन्तः, श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव, मृत्युं श्रुतिपरायणाः।। *(गीता १३/२४-२५)*

उक्त श्लोकों में इसी तथ्य का उद्‌घाटन किया गया है।

वास्तव में देखा जाये तो योग का विषय अत्यन्त गहन तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। यह

अनुभूतिपरक विषय है, इसे शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता है। स्थान–स्थान पर योग की उपादेयता के विषय में योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारबिन्द से यथा प्रसंग इसका वर्णन किया है। योग शब्द स्वतः ही व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। भगवान पतंजलि ने जहाँ योग की व्याख्या करते हुए "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" इस सूत्र की रचना की है, वहीं गीता में योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से 'न ह्यसंन्यस्त सङ्कल्पो, योगी भवति कश्चन' कहकर मनुष्य मात्र का ध्यान आकृष्ट किया है।

स्थान–स्थान पर 'योग' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता में हुआ है। कितना सुन्दर समन्वय भगवान श्रीकृष्ण ने किया है। सभी मार्गावलम्बियों के लिए क्या ही सुन्दर कथन है–

नैव किंचित्करोमीति, युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यंश्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्न–श्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन्।।
प्रलपन्विसृजन्गृहणन्नु–न्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु, वर्तन्त इति धारयन्।।
ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि, सङ्ग त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्नमिवाम्भंसा।।
कायेन मनसा बुद्धया, केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति, सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये।।

(गीता ५/८–९–१०–११)

इसका भाव यह है कि एक तत्वज्ञानी तथा युक्त पुरुष को यह मानकर चलना है कि मैं तो कुछ नहीं करता हूँ। मेरे देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए, सांस लेते हुए, बोलते हुए, त्यागते हुए, ग्रहण करते हुए, पलक उठाते हुए तथा गिराते हुए, इन क्रियाकलापों में भी मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ—अलग–अलग जो इन्द्रियाँ हैं, वे अलग–अलग विषयों में मात्र व्यवहार कर रही हैं। समस्त कर्मों व क्रियाओं को ब्रह्म में समर्पित कर निःसंग होकर जो कार्य करता है, वह पाप से उसी प्रकार अलिप्त रहा करता है, जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी उससे अलिप्त रहता है। इससे आगे श्री मुख से भगवान कह रहे हैं–शरीर से, मन से, बुद्धि से तथा इन्द्रियों से भी योगीराज निःसंग होकर आत्म–शुद्धि के लिए कर्म करते रहते हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि एक युक्त योगी तत्ववेत्ता हुआ करता है। वह ज्ञानयोग की उस स्थिति तक पहुँचा हुआ होता है जिसमें उसे यह आभास ही नहीं होता है कि वह स्वयं कर्ता–धर्ता है। ठीक है इन्द्रियाँ अपने विषयों में स्वतः व्यवहार कर रही हैं। वह तो निःसंग भाव से सभी कर्मों को ब्रह्मार्पण करता हुआ लोक–व्यवहार कर रहा है, इससे अधिक कुछ नहीं। वह जो कुछ भी करता है, चाहे वह ईश्वर की आराधना करता है अथवा किसी कर्म में प्रवृत्त

होता है, वह सब एक साक्षीभाव से ही किया करता है। उसमें वह अपने को अहंभावेन निमित्त नहीं माना करता वह अहंभाव से पृथक् हो जाया करता है।

अब हमें सारभाव में यह देखना है कि चूँकि सभी मार्ग एक–दूसरे से सम्पृक्त हैं ही, परन्तु पुनरपि जो 'सिद्धयोग' का मार्ग है वह किसी सिद्धयोगी के तथा सामर्थ्यवान एवं आप्तकाम महापुरुष के द्वारा, शरणापन्न होकर अत्यन्त पुण्य से प्राप्त होता है। जिसमें वे अपने साधक शिष्य के कल्याणार्थ उसके संस्कारों के अनुकूल उसे उसी योग–पथ पर आरूढ़ कर देते हैं।

हमारे परमाराध्य प्रातः स्मरणीय एवं प्रतिक्षण–दर्शनीय सिद्धों को भी अभीष्ट सिद्धि प्रदाता, योगेश्वर सद्गुरुदेव द्वारा हमें जिस पथ पर आरूढ़ कर दिया गया है, वह सर्वश्रेष्ठ योग–मार्ग है, जिसके लिए भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं अपने श्रीमुख से हमें संकेत किया है–

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन।। *(गीता ७/४६)*

अर्थ स्पष्ट ही है कि एक योगी तपस्वियों, ज्ञानियों से तथा कर्मियों से अधिक श्रेष्ठ होता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी बनो।

इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आचरणीय बिन्दु यह है कि हमें प्रभुजी ने जिस किसी भी विधि से जो कुछ भी करते रहने के आदेश प्रदान किये हैं उनका पालन हम जितने अंश तक करने में सक्षम व सफल होंगे, उतने–उतने अंशों में हम आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ेंगे तथा श्रेय के भाजन बनेंगे। इस मार्ग में गुरु–कृपा के साथ–साथ साधक का गुरुदेव के चरणों में अनुराग तथा श्रद्धातिशयता एक महान उपलब्धि है। भगवान पतंजलि तथा योग–योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुखोच्चरित सुधासिक्त वचनों में कितना साम्य है, जरा देखें–

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा–सेवितो दृढभूमिः। *(योग–दर्शन)*

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च, संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः।।
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः। *(भगवद्गीता)*

इसके अतिरिक्त श्रद्धा एवं विश्वास इस कोटि का होना चाहिए–

मन्नाथस्त्रिजगन्नाथः, मद्गुरुस्त्रिजगद्गुरुः।

कहने का अभिप्राय मात्र यही है कि इस 'सिद्धयोग' के साधक एवं सिद्ध–पथिकों का इस लोक में तो जीवन निरापद, निर्भय तथा कृत–कृत्य होगा ही, परलोक में भी मनुष्यदेह की प्राप्ति की अवस्था में पूर्व जन्मोपात्त सुन्दर संस्कारमय जीवन का श्रीगणेश ही होगा।

प्राण-प्रवाहिनी नाड़ियाँ

(पातञ्जलि योग प्रदीप से)

मनुष्य शरीर में प्राण-प्रवाहिनी नाड़ियाँ असंख्य हैं। १५ इनमें से मुख्य हैं, जिनका परिचय इस प्रकार है—

(१) सुषुम्ना, (२) इड़ा, (३) पिङ्गला, (४) गान्धारी, (५) हस्त जिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) शूरा, (९) कुहू, (१०) सरस्वती, (११) वारुणी, (१२) अलम्बुसा, (१३) विश्वोदरी, (१४) शंखिनी, (१५) चित्रा।

इसमें से कुछ मुख्य नाड़ियों का स्थान इस प्रकार है।

हस्त जिह्वा—ये दोनों क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्रों से बायें और दायें पैर के अंगूठे तक चली गयी हैं।

यशस्विनी—क्रमशः दक्षिण और बायें कान में स्थित हैं तथा ध्वनि और शब्द को ग्रहण करने की क्षमता रखती है।

शूरा—नासिका में से भ्रूमध्य तक बसी है और गन्ध ग्रहण की क्षमता रखती है।

कुहू मुख में जाती है।

सरस्वती—जिह्वा के अगले भाग तक जाकर इसके ज्ञान और वाक्यों को प्रकट करती है।

उपरोक्त १५ नाड़ियों में सुषुम्ना, इड़ा, पिङ्गला, ये तीन प्रधान नाड़ियाँ हैं। इनका योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सुषुम्ना इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ है। यह नाड़ी अति सूक्ष्म नली के सदृश है जो गुदा के निकट से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर चली गयी है। इसी स्थान (गुदा के स्थान के निकट से) इसके वाम भाग से इड़ा दक्षिण भाग से पिङ्गला नासिका मूल-पर्यन्त चली गयी है। भ्रूमध्य में ये तीनों नाड़ियाँ परस्पर मिल जाती हैं। सुषुम्ना को सरस्वती, इड़ा को गंगा और पिङ्गला को यमुना भी कहते हैं। गुदा के समीप जहाँ ये तीनों नाड़ियाँ पृथक् होती हैं उसको मुक्त त्रिवेणी और जहाँ ये तीनों भ्रूमध्य में फिर मिल गयी है उसको युक्त त्रिवेणी कहते हैं।

साधारणतया प्राणशक्ति निरन्तर इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों से श्वास-प्रश्वास रूप से प्रवाहित होती रहती है। इसको चन्द्रनाड़ी और पिङ्गला को सूर्यनाड़ी कहते हैं। इड़ा तम प्रधान और पिङ्गला रज प्रधान है। श्वास कभी दाहिने नथुने से अधिक वेग से चलता है कभी बायें से, और कभी दोनों से समान गति से प्रवाहित होता है। जब बायें नथुने से श्वास अधिक वेग

से चलता रहे तो उसे इड़ा या चन्द्रस्वर कहते हैं और जब बाँये से अधिक वेग से चले तो उसे पिङ्गला या सूर्यस्वर कहते हैं। और जब दोनों नथुनों से समान गति से अथवा एक क्षण एक नथुने से दूसरे क्षण दूसरे नथुने से प्रवाहित हो तो उसे सुषुम्नास्वर कहते हैं।

स्वस्थ मनुष्य का स्वर प्रतिदिन प्रातः काल सूर्योदय के समय से ढाई–ढाई घड़ी के हिसाब से क्रमशः एक एक नथुने से चला करता है। इस प्रकार अहोरात्र (एक दिनरात) से (बारह वक्त) बायें औ.र बारह बार दांये नथुने से क्रमानुसार श्वास चलता है। किस दिन किस नथुने से श्वास चलता है इसका निश्चित नियम है–

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे, भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपदा दिनान्याहु–स्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये।।

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि से तीन दिन की बारी से चन्द्र से (बायें नथुने से) तथा कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन दिन की बारी से सूर्य नाड़ी (दायें नथुने) से सूर्योदय के समय श्वास (ढ़ाई घड़ी तक) प्रथम प्रवाहित होती है।

शारीरिक विकार एवं रोग की अवस्था में स्वर अनियमित रूप से चलने लगते हैं। प्रतिश्याय (जुकाम) की अवस्था में सम्भवतः पाठकों को स्वयं इसका अनुभव हुआ होगा। उस अवस्था में अपने प्रयत्न द्वारा स्वर को बदलने से रोग निवृत्ति में बड़ी सहायता मिलती है। स्वर–साधन से स्वर का बदलना अति सुगम हो जाता है। जब इड़ा (चन्द्र वाम स्वर) चल रहा हो तब स्थायी काम करना चाहिए जिनमें अल्प श्रम और प्रबन्ध की आवश्यकता हो तो दूध, जल आदि तरल पदार्थों के पीने, पेशाब करने, यात्रा और भजन साधन शान्ति के काम करने चाहिए।

पिङ्गला–(सूर्य दायें स्वर) चलने के समय इनसे अधिक कठिन कार्य करने चाहिए। जिनमें अधिक परिश्रम अपेक्षित हो तथा कठिन मात्रा, मेहनत के कार्य व्यायाम आदि भोजन शौच–स्नान, आदि कार्य करने चाहिए।

सुषुम्ना जब दोनों स्वर सम अथवा एक–एक क्षण में बदलते हुए चल रहे हों तब योग–साधन तथा सात्विक धर्मार्थ कार्य करने चाहिए।

दिन में अर्थात् जब रजोगुण प्रधान सूर्य स्वर चल रहा हो तब योग साधन न करें। और रात्रि में भी अर्थात् जब तम प्रधान स्वर चल रहा हो तब भी योगाभ्यास न करें। दिन–रात दोनों अर्थात् सूर्य और चन्द्र दोनों स्वरों का निरोध करके सुषुम्ना के समय जो पिङ्गला और इड़ा रूपी दिन और रात दोनों का सन्धि समय है। उसमें सदा योगाभ्यास करें।

१. जो स्वर चलाना हो उस नथुने पर कुछ समय तक ध्यान करने से वह स्वर चलने लगता है।

२. जो स्वर चलना हो उससे विपरीत करवट से लेटकर पसली के निकट तकिया दबाने से कुछ काल में वह स्वर चलने लगता है।

आश्रम समाचार–

दिव्य योग शिविर

बाबा विश्वनाथ की नगरी वाराणसी में प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी योग योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज एवं योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की असीम अनुकंपा से योगी डॉ. दासलाल जी महाराज के परम सानिध्य में चार दिवसीय दिव्य सिद्धयोग शिविर का आयोजन दिनांक 25–10–18 से 28–10–18 तक सिद्धयोग आश्रम मोहन सराय टोडरपुर में बड़ी भव्यता से मनाया गया।

निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार प्रातः 5 बजे मंगला आरती तत्पश्चात् 1 घण्टे का ध्यान अभ्यास एवं योगासन, प्राणायाम, षटकर्म की क्रियायें नेति, धौति, आदि का अभ्यास कराया गया। 9 बजे महाप्रभु जी की दिव्य आरती, गीतापाठ एवं गीता जी पर सार प्रवचन हुये। योगी डॉ. दासलाल जी महाराज ने गीता के गूढ़ रहस्यों को सरल शब्दों में समझाया। बनारस एवं हरियाणा के गुरुभाइयों के द्वारा श्री प्रभुजी के भजनों द्वारा श्रोताओं को भाव विभोर कर दिया। सायं काल 4 बजे से भजनों की प्रस्तुति बनारस मण्डल एवं हरियाणा मण्डल द्वारा देने के उपरान्त आचार्य द्वारा योग पर व्याख्यान दिये गये। आचार्य जी ने पतंजलि के अष्टांग योग के नियमों को बड़ी ही बारीकी से समझाया एवं ध्यान योग पर विशेष प्रकाश डाला। आम्बाला से पधारे श्री डॉ. वीरेन्द्र स्वरूप जी एवं डॉ. विजय सिंह, एत्मादपुर से पधारे श्री सुबोध शर्मा जी ने भी योग के गूढ़ रहस्यों एवं श्री प्रभुजी की लीलाओं पर प्रकाश डाला।

योग शिविर में उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हिमाचल, महाराष्ट्र, बिहार, हरियाणा से गुरुभाई पधारे। कमेटी के समस्त सदस्यों ने बड़ी ही लगन एवं मेहनत से कार्यक्रम को सफल बनाया। अंतिम दिन श्री डॉ. रामशरण सिंह जी ने बाहर से आये हुये गुरुभाईयों का आभार व्यक्त किया एवं विशाल भण्डारे के साथ कार्यक्रम का समापन हुआ। दिनांक 29–10–18 को योगी डॉ. दासलाल जी महाराज साहिबगंज (झारखण्ड) के लिये रवाना हुये। दिनांक 30–10–18 से 1–11–18 तक श्री विश्वनाथ तिवारी के निवास पर योग प्रचार कार्यक्रम श्री आचार्य के मार्ग दर्शन में हुआ।

यह श्री प्रभुजी की अनुपम कृपा ही है कि प्रभु दरबार के दर्जनों लोग नये जुड़े, प्रातः मंगला आरती, ध्यान, जीवन तत्व साधन, योगासन का अभ्यास आचार्य द्वारा कराया गया 9 बजे भजन, गीता पाठ, सार प्रवचन एवं दिव्य आरती आचार्य जी द्वारा की गयी, सायं भजन योग पर व्याख्यान के उपरान्त दिव्य आरती हुई। एक दिन प्रातः योगी डॉ. दासलाल जी महाराज के साथ 70–80 लोगों को गंगा में स्नान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सायं श्री पुरुषोत्तम जी एवं पीयूष कान्त एवं श्री दशरथ तिवारी जी ने भी अपने–अपने योग पर विचार व्यक्त किये, 1–11–18 को भण्डारे के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

मृत्यु-भय

—आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

भय जीवन का सम्मोहक है। भय के वशीभूत होने पर व्यक्ति अपने केन्द्र से विच्युत हो जाता है। हमारे सन्तों ने भगवान और मृत्यु के भय को जीवन को सात्विक तथा नैतिक बनाने के लिए आवश्यक माना है। यथा—

तुलसी इस संसार में जो चाहसि कल्याण।

किन्तु योग—दर्शन में भय आत्म—तत्व ज्ञान का विरोधी माना गया है। पंच—क्लेशों में अविद्या—अस्मिता, राग—द्वेष और अभिनिवेशों की गणना में अभिनिवेश अर्थात् देहाभिमान जन्म मृत्यु भय है। यह भय प्रत्येक प्राणी के अन्दर जन्म के समय से ही विद्यमान रहता है। आध्यात्मिक तथा योगनिष्ठ प्राणियों में भय, निद्रा, शोक और विषाद न्यून मात्रा में रहते हैं—सत्व समाविष्ट पुरुषों की दृष्टि में ये प्राकृतिक धर्म हैं। आत्मा इन सबसे अलग निर्लिप्त तथा असंस्पृष्ट स्थितियों में रहने वाला है। तामसिक प्रकृति के पुरुषों में ये विषय स्वाभाविक और अधिक परिमाण में विद्यमान रहते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण तामसी धारणा के विवेचन में कहते हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं, विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा, धृतिः सा पार्थ तामसी।।

(गीता १८/३५)

जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को पुनः पुनः दुहराता है वह धृति तामसी कहलाती है। जब तक देह—बुद्धि रहती है, तब तक हर प्रकार का भय विद्यमान रहता है। देह—बुद्धि अभिमानवश रहती है। 'मैं' जितना स्थूल होगा भय भी उतना ही बड़ा होगा। आत्म—साक्षात्कार होने पर प्रज्ञालोक प्रकाशित हो जाता है। पूर्ण ज्ञान की दशा में 'मैं' विगलित तथा विसर्जित हो जाता है। अहम् के बिना देह का जन्म—मरण जन्य दुःख नहीं होता। गुणातीत अवस्था में त्रिगुणों की सुख—दुःख मोहात्मक अवस्था का अनुभव न होने के कारण योगी को मृत्यु एक महोत्सव की तरह तथा पुराने वस्त्र बदलकर नवीनवस्त्र धारण करने की भाँति प्रतीत होती है। योगी देह प्रकृति से मुक्त होने पर प्रकृति जन्य गुणों से व्याकुल नहीं होते। जब तक जीवन प्रकृति के साथ रला—मिला है, तब तक वह भावापन्न तथा भय, शोक, मोह और विषादयुक्त बना रहता है। ज्यों—ज्यों धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास से जीवन

सतोगुणयुक्त बनता जाता है, त्यों–त्यों उनमें मृत्यु का भय कम होता जाता है।

अज्ञानी अविद्या के प्रभाव के कारण चिदांश की अल्प–शक्ति से अनुभव तो कर लेता है कि मरने में भयंकर दुःख होता है। मरना तो दूर कोई मारने को उद्यत दिखाई पड़ जाये तब भी मृत्यु–भय से थर–थर काँप उठता है। सामान्य ज्वर हो जाये या ऑपरेशन के पहले अपने जीवन की जोखिम के विषय में डॉक्टर द्वारा सामने रखे कागज को देखकर आँखों के आगे अंधेरा छा जाता है। और हस्ताक्षर करते वक्त लगता है कि हम मर रहे हैं। जितना अज्ञान प्रबल होगा, उतना ही तमोगुण प्रबल होगा। तमोगुण के प्रबल होने पर देहाभ्यास और देह–जनित सम्बन्धों की आसक्ति दृढ़ होती है। ऐसी स्थिति में तड़प–तड़प कर बहुत मुश्किल से प्राण निकल पाते हैं। ऐसी दशा में परिवार के आत्मीयजन गो–दान तथा महामृत्युञ्जय या 'गोपाल सहस्त्र नाम' का जप–पाठ आदि कराते हैं। जिससे मरणशील प्राणी के मन शरीर और प्राणों के परस्पर बन्धन सूक्ष्म शरीर से शिथिल हो सकें। उसके परिणामस्वरूप शरीरगत प्राण कर्म–संस्कारों को साथ लेकर सूक्ष्म शरीर में सिमटकर वायव्य रूप धारण कर कर्मानुसार पाप, पुण्य या तपोलोक में आवागमन करते रहें।

अज्ञानी की तरह शास्त्र–ज्ञानी को भी मृत्यु–भय व्याप्त होता है। भगवान शंकराचार्य कहते हैं–

डुकृञ् करणं न हि–न हि रक्षति मरणम्।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते।।

ज्ञानी मृत्यु और जन्म को एक ही सिक्के के दो पहलू समझता अवश्य है। पर विषयों का झोंका ज्ञान को उड़ा ले जाता है तब ज्ञानी भी अज्ञानी की तरह आत्म–देह में आसक्त हो उठता है। ज्ञान दो प्रकार का है। उसी के अनुसार जीव की अन्तिम परिणति दो भिन्न प्रकार से होती है। एक ज्ञान कण्ठगत ज्ञान होता है और दूसरा आज्ञा–चक्रगत ज्ञान। पहला ज्ञानाभास है और दूसरा तत्व–बोध। तत्व–बोध का अर्थ है जहाँ तत् अर्थात् अद्वितीय आत्म चैतन्य से भिन्न किसी अन्य असत् वस्तु का अनुभव न होता हो। कण्ठगत ज्ञान मृत्युभय से छुटकारा नहीं दिलाता। क्योंकि वहाँ अहं रूप में आत्म–चेतन सत्ता से भिन्न अलग अन्तःकरण चतुष्टय की प्राकृतिक सत्ता विद्यमान है। आज्ञाचक्र में योगमाया का पुर है। यहाँ तक गुणों का अधिकार है। सुख, दुःख, मोहादि प्रकृति के गुण–धर्म यहाँ तक बर्तते हैं। प्रकृति के चंगुल से छुटकारा पाने के लिए उससे ऊपर अचल स्थिति करनी पड़ती है। यहीं पुरुषोत्तम योग–सिद्ध होता है। यहीं पर शिव अपनी आद्या शक्ति के साथ नित्य युक्त होकर एकरस हो रहा है। यहाँ द्वैत अनुभव करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। ॐकार स्वरूप प्रणव की अकार, उकार, मकार,नाद,

बिन्दु, कला और कलातीत स्वरूप में नित्य स्थित हो जाने पर मृत्यु-भय नहीं होता। क्योंकि उस स्थिति में मृत्यु अर्थात् जाना और जन्म अर्थात् आना कुछ है ही नहीं। एक अखण्ड अद्वैत सत्ता सर्वत्र भरी हुई है। न कोई दूर है न पास, न कुछ प्राप्तव्य है और न अभीष्ट। फिर डर किस बात का और किससे? भय का कारण द्वितीय की अनुभूति बनी रहना है। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि-''द्वितीयाद्भय'' तथा ''अद्वितीयदअभय भवति।'' परम सन्त तुलसीदास ने इसी बात को प्रकारान्तर से कहा है-

अभय होहि जो तुम्हहिं डराहीं।

अर्थात् जिस प्रकार व्यक्ति मृत्यु से भयभीत होता है, वैसा सहस्त्रार स्थित परब्रह्म से अनुभूति करले तो वहाँ सत् श्री अकाल सत्ता है। परम गुरु की सत्ता है, जहाँ काल की गति ही नहीं। वहाँ परम गुरु के हुक्म से मृत्यु भयभीत होकर संसार में भागती-फिरती है। अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिए संसार में उन स्थानों पर डेरा डाल देती है, जहाँ श्रीसद्गुरु तत्व का प्रकाश नहीं पहुँचा। जिनकी अपने परमगुरु ईश्वर के चरण-कमलों में अखण्ड भक्ति तथा आत्म-समर्पण होता है, उनके पास जाते ही मृत्यु स्वयं डरती है।

हमारा शरीर ही काम, क्रोध, लोभ और मोह तथा भय का घर है। जब तक दृष्टि स्थिर नहीं होती हमारा मन विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से बाहर दौड़ता रहता है और शरीर के जिस-जिस स्थान पर मन और प्राण एकत्र होते जाते हैं, वहाँ कहीं काम की अनुभूति होती है तो कहीं क्रोध की, मोह की या भय की। उदाहरणार्थ हमारी त्वचा ही मोह का कारण है, इसी में मोहमयी आसक्ति होती है। कहीं किसी सुन्दर रूप को देखा, मोहमय आकर्षण पैदा हो गया। कुम्भक के द्वारा त्वक् में स्थित मोहमय आकर्षण का शोधन होता है। कुम्भक के द्वारा हृदय में प्राण का दबाव पड़ने पर मोहमय आवरण दूर होकर हृदय-ग्रन्थि का भेद होकर दिव्य-ज्ञान का संचार होता है। इसी प्रकार अन्यान्य यौगिक क्रियाओं से शरीर के विभिन्न केन्द्रों में स्थित विभिन्न विकार परिशुद्ध हो जाते हैं, उनका विवेचन यथास्थान किया जायेगा।

समाधि-सिद्धि हो जाने पर मृत्यु में एकत्व स्थित हो जाता है। समाधि महामृत्यु है। एक काल है, उससे ज्ञानी और अज्ञानी सभी को डर लगता है, किन्तु महाकाल के साथ एकरस हो जाने पर अर्थात् गमनागमन शून्य अखण्डैक-रस अवस्था का साधर्म्य प्राप्त कर सृष्टि के आरम्भ और अन्त में जन्म और मरण से मुक्त बने रहते हैं। हमारे योगसिद्ध आचार्य स्थान-स्थान पर स्पष्ट करते हैं कि हमारे भय के मूल में हमारा लगाव या बन्धन है, इसे स्नेह भी कह सकते हैं। प्रायः दैनिक व्यवहार में देखा जाता है कि जिससे हमारा मोह या लगाव या आसक्ति का भाव अधिक होता है, उसके अमंगल की भी सबसे अधिक आशंका होती है।

संस्कृत के महाकवि कालिदास ने कहा भी है–''**अतिस्नेहः पापशंकी।**'' अपने बच्चे पर अधिक प्रेम होता है। यदि घर पहुँचने में उसे तनिक भी विलम्ब हो जाये तो माँ यही सोचकर रोती है कि कहीं वह दुर्घटना–ग्रस्त न हो गया हो हालांकि सत्य यह होता कि, वह दोस्तों के साथ खेल में इतना मग्न है कि वह देह और गेह दोनों को ही भूल गया है।

काम का सम्बन्ध प्रत्यक्ष–मूलक होता है और क्रोध का भूतकालिक पद्धतियाँ तथा लोभ और भय भविष्य–मूलक होते हैं। रंक से लेकर इन्द्र तक प्राप्त वस्तु का कल नाश हो जायेगा, इस भावना से आज भी भयभीत है। भय का मूल आसक्ति में है, आसक्ति असल में स्थूल देह नहीं होती। स्थूल देह तो सूक्ष्म की अभिव्यक्ति मात्र है। सूक्ष्म देह का शोधन भूतशुद्धि से होता है। भूतशुद्धि और चक्रशोधन इन प्रणालियों से संस्कार रूप में विद्यमान अविद्या के पंच–क्लेशों में महाक्लेश अभिनिवेश की निवृत्ति होती है। सूक्ष्म शरीर में पृथ्वी तक के विद्यमान रहने तक भय पीछा नहीं छोड़ता। श्वास की दायीं गति पिंगला गति मानी जाती है जो कि नाभि तक होती है। इसमें तमोगुण और रजोगुण प्रवाहित होता रहता है। इड़ा नाड़ी की गति बायीं नासिका–रन्ध्र से होती है, इसकी गति हृदय से मूचक्र–पर्यन्त होती है। इनके मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है, जिसकी गति सूक्ष्म अन्तर्मुखी तथा आपाद मस्तिष्क होती है। सुषुम्ना के द्वारा उदानवायु, ऊर्ध्वगामी होकर आज्ञाचक्र में स्थिर होती है। तो उदान वायु जय से पृथ्वी तत्त्व का भारीपन दूर होकर शरीर को लघुत्व बनाकर इच्छा मृत्यु की सामर्थ्य प्राप्त होती है। वृद्ध योगाभ्यासी योगियों में आजकल भी इच्छा मृत्यु देखी जाती है। चटपट कुशासन पर बैठकर ॐकार की दीर्घ श्वास लेकर प्राणों को शरीर से इस प्रकार निकाल देते हैं। जैसे कि मूंज, घास में से सींक को खींचकर आसानी से अलग कर देते हैं। न मृत्यु भय न झंझट। इसी प्रकार मूलाधार चक्र के पश्चात् स्वाधिष्ठान चक्र में जल तत्व पर अधिकार होने पर जल शुद्धि होती है। जल तत्व से मोह निवृत्ति मानी जाती है। इसी प्रकार नाभि चक्र में समान वायु जय से अग्नि तत्व से जुड़ा क्रोध आत्मवश में हो जाता है। अनाहत चक्र में वायु तत्व जय से तटस्थ काम जय तथा विशुद्ध चक्र में आकाश तत्व से सम्बद्ध लोभ भी इसी भूतशुद्धि द्वारा वशी होता है।

चरकमुनिका अध्यात्म-दर्शन

डॉ. सन्तनारायण श्रीवास्तव्य
संस्कृत विभाग : इलाहाबाद विश्वविद्यालय

आत्मा का विभुत्व

चरकमुनि ने आत्मकी सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हुए उसे विभु, सर्वग और सर्वगत कहा है। जब अग्निवेश ने आत्मा की व्यापकता पर आक्षेप करते हुए कहा—यदि आत्मा सर्वगत है, तो सभी (सर्वाश्रयस्थ) वेदनाओं का ज्ञान उसे क्यों नहीं होता है? तब महर्षि आत्रेयने उसका परिहार इस प्रकार किया—'सर्वव्यापक होने पर भी (परिच्छिन्न देहादिका उपादान करने के कारण) देही आत्मा अपने-अपने स्पर्शनेन्द्रिययुक्त शरीर में ही होने वाली सुखदुःख रूप वेदनाओं को जानता है, सभी आश्रयों में रहने वाली वेदनाओं को नहीं जान पाता है।'

जीव की अल्पज्ञता का जो समाधान अद्वैत वेदान्त में उपलब्ध होता है, वही समाधान यहाँ चरकमुनि ने प्रस्तुत किया है। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शंकराचार्य ने किसी नवीन दर्शन का प्रणयन नहीं किया है, प्रत्युत श्रुतिस्मृति प्रतिपादित, महाभारत तथा चरक संहितादि प्राचीन ग्रन्थों में निरूपित औपनिषद दर्शन ही शंकराचार्य का प्रतिपाद्य है। 'देही' यह आत्मा का हेतुगर्भ विशेषण है, अर्थात् देहावच्छिन्न होने के कारण। शरीर के लिए 'संस्पर्शनेन्द्रिय' शब्द का प्रयोग यह प्रदर्शित करने के लिए किया गया है कि अपने शरीर में भी जहाँ केशनखादि में स्पर्शनेन्द्रिय नहीं है, वहाँ आत्मा को किसी भी प्रकार की सुखदुःख रूप अनुभूति नहीं सर्वथा भिन्न और उदासीन बताया गया है। जबकि यहाँ पर पुरुष या आत्मा को प्रकृति से अभिन्न प्रधान के रूप में स्वीकार किया गया है। मूल प्रकृति और पुरुष इन दोनों को चरक संहिता में एकत्वेन ग्रहण किया गया है और उसे 'अव्यक्त' संज्ञा भी प्रदान की गयी है। चरक का यह सिद्धान्त उपनिषद् तथा महाभारतादि ग्रन्थों का अनुगामी है, न कि परवर्ती साङ्ख्य का।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

चरक संहिता की रचना के बहुत पहले श्रीमद्भगवद् गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेचन प्राप्त होता है। चरक संहिता में उसी गीतोक्त क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ प्रविभाग का प्रतिबिम्ब लक्षित होता है। आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूत, बुद्धि, अव्यक्त और आठवाँ अहंकार—इन आठ को समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियों की प्रकृति कहा गया है। इनके अतिरिक्त सोलह को

'विकार' संज्ञा दी गयी है। ये विकार हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच अर्थ (आकाशादि स्थूलभूत)। इन चौबीस तत्त्वों में अव्यक्त को छोड़कर शेष तेईस को क्षेत्र कहा गया है, तथा ऋषियों ने अव्यक्त को इस क्षेत्र का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ समझा है।

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश।।
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिताः।।
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः।। *(शारीर० १.६३–६५)*

चरक संहिता में 'अव्यक्त' पद से अव्यक्त नाम्नी मूलप्रकृति से संयुक्त चेतन पुरुष को ग्रहण किया गया है, ऐसा हम पहले भी कह आये हैं। जबकि ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में 'अव्यक्त' पद से त्रिगुणात्मक अचेतन मूल प्रकृति मात्र को ग्रहण किया गया है। चरक का मत अद्वैत–वेदान्त का अनुगामी है। अव्यक्त को क्षेत्रज्ञ कहने से उसका चेतन होना सिद्ध होता है। अन्य भी अनेक स्थलों पर चेतन पुरुष या आत्मा के लिए चरकने 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग किया है। शंकराचार्य ने अव्यक्त से परमात्मा की अव्याकृत मायाशक्ति को ग्रहण किया है।

न व्यक्तम् अव्यक्तम् अव्याकृतम् ईश्वरशक्तिः
'मम माया दुरत्यया' इत्युक्तम्। *(गीताभाष्य १३.५)*

मायाशक्ति परमेश्वर से अभिन्न है, इसलिए चरक ने एक कदम और आगे बढ़कर शक्ति और शक्तिमान् में अभेद दृष्टि रखकर चेतन पुरुष के लिए ही अव्यक्त शब्द का प्रयोग किया है।

गीता में अव्यक्त से अव्याकृत मूल प्रकृति को ग्रहण कर तथा उसमें महदादि तेईस और इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख, संघात–चेतना तथा धृति—इन क्षेत्र धर्मों को सम्मिलित कर क्षेत्र की व्याख्या की गयी है। वहाँ पर इन सबके संघात रूप स्थूल शरीर को क्षेत्र तथा इस शरीर को जानने वाले परमात्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया है। स्थावर–जंगम में समस्त भूत समुदाय की सृष्टि का हेतु क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग बताया गया है, तथा क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ का सम्यग् ज्ञान तत्वज्ञान रूप होने के कारण मोक्षकारक है, ऐसा कहकर इस प्रकरण का उपसंहार किया गया है।

गीता तथा चरक के क्षेत्र विषयक सिद्धान्त में केवल अव्यक्त को लेकर मतभेद है। गीता में उसे मूल प्रकृति या अव्याकृत मायाशक्ति के रूप में ग्रहण करके क्षेत्र के अन्तर्गत गिनाया गया है, किन्तु चरक संहिता में प्रकृतिव्यतिरिक्त उदासीन पुरुष को अव्यक्तस्वरूप साधर्म्य के कारण अव्यक्त प्रकृति में ही प्रक्षिप्त करके अव्यक्त शब्द से ग्रहण किया गया है। इसीलिए

अव्यक्त को यहाँ पर क्षेत्रज्ञ कहा गया है। वस्तुतः क्षेत्रज्ञ के स्वरूप-निर्धारण के लिए प्रयुक्त पदावली में भेद होने पर भी दोनों ग्रन्थों में क्षेत्रज्ञ के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। चरक ने अव्यक्त आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा है। चूँकि आत्मा सर्वगत और महान् है, इसी से उसका विभुत्व भी सिद्ध होता है। विभुत्व का अर्थ है सर्वपरिमाणयोगी होना, अर्थात् विश्व के सभी परिमाण इस आत्मा के ही परिमाण हैं। जैसे हाथी के पैर में सभी के पैर समा जाते हैं, वैसे ही विश्व के समस्त परिमाण आत्मा में समा जाते हैं। यद्यपि आकाश भी सर्वत्र उपलब्ध होने के कारण सर्वगत कहा जाता है, तथापि वह 'महान्' नहीं है। आकाश का व्यवच्छेद करने के लिए भी यहाँ आत्मा को सर्वगत होने के साथ महान् कहा गया है। आत्मा की यह महत्ता ही ब्रह्म और भूमा इत्यादि के रूप में पर्यवसित हुई है। आकाशादि में यह बात नहीं है, वे तो आत्मा के एक अंशमात्र में स्थित हैं।

आत्मा के विभुत्व पर अग्निवेश ने एक दूसरी शंका यह उठायी कि यदि आत्मा विभु है, तो पर्वत और दीवाल के पीछे की वस्तु को क्यों नहीं देख पाता है? आत्रेय ने कहा–'मन को समाहित करने के द्वारा योगियों का आत्मा छिपी हुई वस्तुओं को भी देख सकता है। यद्यपि आत्मा सर्वयोनिगत अर्थात् सभी शरीरों में व्यापक है, तथापि देहोत्पादक कर्म का अनुसरण करने वाले मन के साथ नित्य-सम्बद्ध होने के कारण उसे एक योनि में स्थित अर्थात् एक शरीर से सम्बद्ध समझना चाहिए।' तात्पर्य यह है कि व्यापक होने के कारण यद्यपि आत्मा के लिए पर्वत या दीवाल इत्यादि का व्यवधान नहीं हो सकता है, तथापि उसकी उपलब्धि का साधनभूत जो मन है, वह एक शरीर मात्र में व्यवस्थित है, अतः शैलकुण्डयादि से तिरोहित वस्तु को देखने में वही व्यवधान बनता है। मोक्षपर्यन्त मन का आत्मा से नित्य सम्बन्ध रहता है, और मन देह निर्वर्तक कर्म का अनुसरण करने के कारण देह से सम्बद्ध होता है। फलतः देह और मन से सम्बद्ध होने के कारण आत्मा की उतनी ही सामर्थ्य रह जाती है, जितनी देह और मन की होती है। किन्तु जब कोई योगी मन की वृत्तियों को एकाग्र करके देह तथा मनोवृत्तियों के आभास से रहित हो जाता है, उस समय देह और मन का व्यवधान हट जाने से वह तिरोहित पदार्थों को भी देखने में समर्थ हो जाता है।

आत्मा को कई स्थलों पर विश्व रूप कहा गया है। **विश्वानि रूपाणि यस्य स विश्वरूपः** इस व्याख्या से विश्व के सभी रूप उसी के रूप हैं। गिरि-समुद्रादि तथा ग्रह-नक्षत्रादि सब उसी के रूप हैं। वह स्वयं ही विश्व के रूप में हो गया है, जैसा कि उपनिषद् कहती है–'उसने संकल्प रूप तप करके, यह जो कुछ है, इस सबकी रचना की। इसे रचकर वह इसी में अनुप्रविष्ट हो गया और अनुप्रवेश करके वह सत्य आत्मा यह जो कुछ है–मूर्त, अमूर्त,

निर्वचनीय और अनिर्वचनीय, आश्रय और अनाश्रय, जड़ और चेतन तथा सत्य और अनृत– इन सबके रूप में हो गया। इसके अतिरिक्त **इदं सर्व यदयमात्मा** (बृहदा० २.४.६), **आत्मैवेदं सर्वम्** (छान्दोग्य० ७. २५.२), **सर्व खल्विदं ब्रह्म** (छान्दो० ३.१४.१), **ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्** (मुण्डक० २.२.११), तथा **सर्वऽह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म** (माण्डूक्य० २) इन वाक्यों के द्वारा उपनिषदों में आत्मा की विश्वरूपता का गान किया गया है। अतः आत्मा को विश्वरूप कहने के कारण चरकसंहिता सांख्य तथा न्याय वैशेषिक से अपना मतभेद प्रकट करती है तथा श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित सिद्धान्त का अनुवर्त्तन करती है।

आत्मा के विश्वरूप होने से **विश्वकर्मा सर्वशरीरभृत्** और **एकः** इत्यादि विशेषणों की भी संगति लग जाती है।

शरीरेन्द्रियादिका प्रयोक्ता (प्रवर्त्तक या प्रेरक) होने के कारण आत्मा को तीन स्थलों पर **प्रधान** भी कहा गया है। शरीरस्थान (४.८) में आत्मा के पर्यायों के बीच प्रधान भी गिना गया है। शरीरस्थान (७.१६) में **यत्प्रयोक्तृ तत्प्रधानम्** कहकर प्रधानसंज्ञक आत्मा का प्रेरकत्व बताया गया है। तथा शरीरस्थान (७.१८) में भी आत्मा के लिए प्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे भी सांख्य दर्शन से चरकमुनि का वैमत्य सिद्ध होता है। सांख्य दर्शन में त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति को प्रधान कहा गया है, और पुरुष या आत्मा को उससे कहा है और भगवान् वासुदेव ने अपने को अर्थात् परमात्मा को क्षेत्रज्ञ कहा है। अव्यक्त आत्मा और परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

चरकसंहिता में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को लेकर एक मौलिक प्रश्न उठाया गया है। क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र इन दोनों में कौन पहले हुआ? यदि क्षेत्रज्ञ को पूर्वभावी मानें, तो यह बात ठीक नहीं जँचती, क्योंकि क्षेत्रज्ञ शब्द क्षेत्रसापेक्ष है। क्षेत्र ज्ञेय है, उसके अस्तित्व पर ही उसके ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) का अस्तित्व अवलम्बित है। क्षेत्र के न होने पर क्षेत्रज्ञान का अभाव होने से क्षेत्रज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकती है। और इसके विपरीत यदि क्षेत्र को पूर्ववर्ती माना जाये, तो क्षेत्रज्ञ आत्मा अशाश्वत अर्थात् अनित्य हो जायेगा। इसलिए संशय होना स्वाभाविक है। अग्निवेश की इस शंका का उत्तर इस प्रकार है–अनादि होने के कारण क्षेत्रज्ञ आत्मा का आदि नहीं है, और क्षेत्रों की प्रवाहरूप परम्परा भी अनादि है। अतः क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र परम्परा दोनों के अनादि होने के कारण 'कौन पहले हुआ' यह प्रश्न ही नहीं उठता है।

इस पर एक दूसरी शंका उठती है। यदि क्षेत्र परम्परा अनादि है, तो आत्मा के समान उसका भी विनाश नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो अनादि है, वह नित्य है, जैसे आत्मा। यदि क्षेत्र परम्परा भी आत्मा के समान नित्य है, तो कभी मोक्ष नहीं हो सकता है। इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिए–यद्यपि आत्मा और क्षेत्रज्ञ परम्परा दोनों ही अनादि हैं, तथापि

नित्यता केवल आत्मा में ही है। तत्त्व साक्षात्कार से मोक्ष होने पर क्षेत्र परम्परा निवृत्त हो जाती है। अतः अनादि होने पर भी क्षेत्र परम्परा शान्त होने के कारण नित्य नहीं हो सकती है। अनादिता भी केवल क्षेत्र परम्परा की है, क्षेत्रगत बुद्ध्यादि की नहीं, क्योंकि बुद्धियादि उत्पत्ति विनाशधर्मा है। वस्तुतः क्षेत्र के अनित्य होने के कारण क्षेत्र परम्परा भी अनित्य है, क्योंकि सन्तान सन्तानियों से अभिन्न होती है। जब व्यष्टिभूत क्षेत्र उच्छित्ति धर्मा है, तो क्षेत्र, सन्तान परम्परा भी उच्छित्तिधर्मा ही सिद्ध होती है। इसलिए उसकी अनादिता भी आत्मा के समान मुख्य न होकर भाक्त है। मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले आगम क्षेत्र–परामारा के उच्छेद में प्रमाण है।

गीता में प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि कहा गया है। प्रकृति से बुद्ध्यादि संघात रूप क्षेत्र परम्परा तथा पुरुष से क्षेत्रज्ञ आत्मा उपलक्षित होता है।

ईश्वर

यथा स्वेनात्मनात्मानं सर्वः सर्वासु योनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः।। *(शारीर० १.७७)*

चक्रपाणि ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है–'यह प्राणी स्वयं ही अपने धर्माधर्म की सहायता से अपने को सभी योनियों में ले जाता है, किसी दूसरे से प्रेरित होकर नहीं जाता है, क्योंकि कोई दूसरा पुरुष इसका प्रेरक नहीं है, और ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। अथवा यदि ईश्वर है, तो वह भी कर्मपराधीन है। उनका यह कथन अविचारित प्रतीत होता है, क्योंकि चरकमुनि को न तो ईश्वर का अभाव अभिप्रेत है, और न उसका कर्म–पराधीन होना।

एक योनि से दूसरी योनि में गमन करने वाला जो जीव या पुरुष है, चरकमुनि ने ब्रह्म को उसका अन्तरात्मा कहा है। अनेक धातुओं के संघात रूप पुरुष में जो चैतन्य स्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व है, उसी को कहीं पर ब्रह्म, कहीं पर आत्मा और कहीं परमात्मा कहा गया है। परमात्मा परमेश्वर ईश्वर और ब्रह्म समानार्थक है। यही वह तत्त्व है जिसे उपनिषदों में सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान मूल कारण और सृष्टा कहा गया है। उपनिषत्प्रतिपादित यह तत्त्व चरकमुनि को सर्वथा मान्य है। सृष्टा परमेश्वर के रूपों में ही उन्होंने आत्मा का प्रतिपादन किया है। देखिये–'प्रलय के समाप्त होने पर अक्षरभूत आत्मा भूतविषयक सर्जनेच्छा से युक्त होकर मन की सहायता से सबसे पहले आकाश की सृष्टि करता है, उसके अनन्तर क्रमशः अधिक व्यक्त गुणों वाली वायु इत्यादि चार धातुओं को उत्पन्न करता है। अक्षरभूत परमात्मा की इस सिसृक्षा को उपनिषदों में ईक्षण या कामना कहा गया है। तथा आत्मा से आकाशादि की उत्पत्ति भी इसी क्रम से बतायी गयी है।

चरक के अनुसार पुरुष का अन्तरात्मा ब्रह्म है, और उपनिषदों में ब्रह्म से ही समस्त भूतवर्ग की उत्पत्ति, उसी में स्थिति, और उसी में विलय बताया गया है। अतः भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण भूत ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी चरक को निरीश्वरवादी कहना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है। चरकमुनि ब्रह्मवादी हैं, तथा पौराणिक मान्यताएँ भी प्रतीकात्मक रूप में उन्हें स्वीकार्य हैं।

पुरुष और लोक के साधर्म्य का प्रतिपादन करते हुए चरक ने कहा है कि लोक में जितने मूर्तिमान भाव विशेष हैं, उतने ही पुरुष में हैं। तथा पुरुष में जितने भाव विशेष हैं, उतने ही लोक में हैं। इसके अनन्तर उन्होंने लोक में ब्राह्मी विभूति का और पुरुष में आन्तरात्मि की विभूति का समानान्तर वर्णन किया है–'जिस प्रकार लोक में ब्रह्म (परमेश्वर) की विभूति (ऐश्वर्य) है, उसी प्रकार पुरुष में भी आन्तरात्मिकी विभूति है। जैसे लोक में ब्रह्म की विभूति प्रजापति है, उसी प्रकार पुरुष में अन्तरात्मा की विभूति सत्व (मन) है। लोक में जो इन्द्र है, वह पुरुष में अहंकार है। लोक में जो आदित्य है, वह पुरुष में आदान (रस शोषण शक्ति) है। लोक में जो रुद्र है, वह पुरुष में रोष है। लोक में जो सोम (चन्द्रमा) है, वह पुरुष में प्रसाद (प्रसन्नता) है। वसुगण सुख हैं, अश्विनीकुमार कान्ति हैं, मरुद्गण उत्साह हैं, विश्वदेव सब इन्द्रियाँ और उनके विषय हैं, अन्धकार मोह है, प्रकाश ज्ञान है। जैसे लोक में सर्ग का प्रारम्भ है, वैसे ही पुरुष का गर्भाधान है। जैसे लोक में सत्ययुग है, वैसे ही पुरुष का बचपन है, त्रेता यौवन है, द्वापर बुढ़ापा है, कलियुग बीमारी है, और युगान्त मृत्यु है।'

विभूति ऐश्वर्य का पर्याय है। ईश्वर के धर्मों को ऐश्वर्य कहा जाता है। सारा लोक जिसकी विभूति के रूप में वर्णित हुआ है, उस परमेश्वर के अस्तित्व में शंका करना युक्तियुक्त नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस प्रकरण में चक्रपाणि भी अपने पूर्वोक्त कथन के विरुद्ध **ब्राह्मीति आत्म विशेषस्य जगत्स्त्रष्टुर्विभूतिः** कहकर जगत्सृष्टा परमेश्वर का अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं। चरक संहिता में अनेक स्थलों पर भगवान्, परमेश्वर, विष्णु, सहस्त्रशीर्षा, चराचरपति, कृष्ण, वासुदेव तथा विश्वकर्मादि शब्दों का प्रयोग प्राप्त होने से ग्रन्थकार की ईश्वर के अस्तित्व में आस्था सुस्पष्ट व्यक्त होती है।

तिस्त्रैषणीय में परनिर्माणवादियों का खण्डन करते हुए कहा गया है–''अनादि चेतना धातुरूप आत्मा का किसी अन्य के द्वारा निर्मित किया जाना सम्भव नहीं है, किन्तु परनिर्मिति से यदि परमात्मा का प्रपञ्चहेतुत्व अभिप्रेत हो, तो हमें भी परनिर्मिति अभीष्ट है।'' इससे सिद्ध होता है कि चरकमुनि औपनिषद सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए परआत्मा को विश्वप्रपञ्च का कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों पर इस आत्मा को हेतु, निमित्त,

कारण, कर्त्ता, धाता, प्रयोक्ता, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, प्रजापति और सर्वशरीभृत् इत्यादि कहा गया है। यह आत्मा ही ईश्वर या ब्रह्म है।

न्याय–वैशेषिक सांख्य–योग तथा पाशुपत दर्शन में ईश्वर का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है, वह चरक मुनि को अभीष्ट नहीं है। इन दर्शनों में ईश्वर को प्रकृति तथा पुरुष वर्ग या पशुवर्ग से भिन्न और तटस्थ माना गया है, जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रह्म या आत्मा को जीव का अन्तरात्मा माना गया है, और अव्यक्त प्रकृति को भी पुरुष से अभिन्न मानकर पुरुष के लिए अव्यक्त शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः चरक संहिता में वैशेषिक तथा सांख्य दर्शन की प्रचुरता होने के कारण चक्रपाणि को पूर्वोक्त भ्रान्ति हुई होगी। तटस्थ ईश्वर का प्रतिपादन न करने के कारण उन्होंने सांख्य के समान चरक को भी निरीश्वरवादी समझ लिया होगा। पुरुष और प्रकृति से अभिन्न अद्वैत परमात्मतत्त्व की ओर उनकी दृष्टि क्यों नहीं गयी, यह बात समझ में नहीं आती है। सम्भवतः वे ईश्वर शब्द की तलाश में रहे होंगे, जो चरक में कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है।

रही ईश्वर के कर्मपराधीन होने की बात, सो ईश्वर को कर्मपराधीन मानना दर्शनशास्त्र विषयक घोर अज्ञान का परिचायक है, क्योंकि उस स्थिति में ईश्वर की ईश्वरता और सर्वशक्तिमत्ता नहीं रह जायेगी। जो पराधीन है, वह ईश्वर कैसा? यह बात लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है। किन्तु तटस्थेश्वरवाद में कर्म–पराधीनता का दोष अपरिहार्य है, क्योंकि यदि ईश्वर को कर्म पराधीन नहीं माना जायेगा, तो उसमें कर्मनिरपेक्ष होकर हीन, मध्यम और उत्तम प्राणियों की सृष्टि करने से हम लोगों के समान राग–द्वेषादि दोषों की प्रसक्ति होगी, और ईश्वर का ईश्वरत्व नष्ट हो जायेगा। यदि उसे कर्मापेक्षया सृष्टिकर्ता माना जाये, तो कर्म और ईश्वर के परस्पर प्रवर्तक और प्रवर्त्य होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। अतः तटस्थेश्वरवाद में अनेक दोष होने के कारण ग्रन्थकार ने उसे हेय समझकर श्रुतिस्मृति प्रतिपादित ब्रह्मवाद का आश्रय ग्रहण किया है। ब्रह्मवाद में प्राणियों का ब्रह्म से अभेद होने के कारण, तथा संसार के अनादि होने से सृष्टि और कर्म में बीजाङ्कुर के समान कार्यकारण भाव होने के कारण पूर्वोक्त दोषों के लिए अवकाश नहीं है।

हमारा विशेष लेख–

योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी एवं निर्माण चित्त

(श्री योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

योग सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले हमारे पुराने ग्रन्थों में निर्माण चित्त का बहुत बड़ा स्थान है। एक योगी निर्माण चित्त का आश्रय लेकर क्या नहीं कर सकता। पंचशिखाचार्य का लेख है–

'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्या–
द्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रम् प्रोवाच्।'

अर्थात् आदि योगी भगवान् कपिलदेव ने निर्माण चित्त का आश्रय लेकर जिज्ञासु आसुर्य को तन्त्र का उपदेश किया। भगवान् विष्णु स्वयं महर्षि कपिलदेव के रूप में प्रकट हुए एवं उन्होंने निर्माण चित्त के द्वारा तन्त्र का उपदेश किया।

निर्माण चित्त क्या?

इस लेख में पढ़ने वालों के मन में यह तीव्र अभिलाषा होगी कि मैं उनको निर्माण चित्त की परिभाषा बतलाऊँ। हमारे शरीर में मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार का एक पुतला है जिसको हम सूक्ष्म शरीर कहा करते हैं। एक सामर्थ्यवान योगी जिस समय किसी को अपने प्रगट हुए ज्ञान का उपदेश करना चाहता है तो उसके पास उस समय दो ही उपाय हैं या तो यह कि वह अपने उसी स्थूल विग्रह से जिज्ञासु को सामने बैठा करके अपने मनोभावों को स्पष्ट रूप से कह कर उसे समझा दे अन्यथा अपने चित्त के द्वारा उसके पास जाकर उसको सभी प्रकार के ज्ञान का उपदेश कर दे।

'न सर्व: सर्वम् जानाति' के नियमानुसार सभी कुछ नहीं जानते। इस लोकोक्ति के अनुसार हर योगी चित्त निर्माण करना जानता हो यह मुश्किल नहीं। इसलिए निर्माण चित्त के द्वारा हर व्यक्ति को उपदेश करना भी संभव नहीं हो सकता। योगी निर्माण चित्त वही बना सकता है जो संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा के स्वरूप अस्मितानुगत समाधि को प्राप्त हो गया हो। हमें योग–दर्शन ने बतलाया है कि योगी अस्मिता मात्र से ही चित्त निर्माण कर सकता है–

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्राद्।।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्ति निम्नलिखित है–

अस्मितामात्रं चित्त कारण मुपादाय निर्माण चित्तानि करोति, ततः स चित्तानि भवन्ति।।

संप्रज्ञात योग की चौथी श्रेणी में पहुँच जाने पर साधक अस्मितानुगत योग का अधिकारी बनता है एवं अस्मि प्रत्यय में प्रतिष्ठित होता है। संप्रज्ञात योग को चारों श्रेणियों में साधक विभिन्न

प्रकार के अनुभव करता रहता है। वह जिस दृश्य को अपना ध्येय बनाता है उसके सामने तदाकाराकारित अन्य दृश्य भी आने लगते हैं। विशेषतः संप्रज्ञात योग के अभ्यासी के सामने भूमण्डल सम्बन्धी दृश्य अधिक आया करते है और उसको वितर्कानुगम योग कहते हैं। वितर्कानुगम योग में संप्रज्ञात योग की प्राथमिक शिक्षा मिलती है क्योंकि यह योग स्थूल विषयों को ही अपना आभोग बनाता है।

वितकश्चित्तस्यालम्बने स्थूलाभोगः।

अर्थात् चित्त को ठहराने के लिये यह वितर्कानुगम योग स्थूल विषय है। इसलिये स्थूल उपकरणों को ही साक्षात् कराने वाला है। इस समाधि में योगी को पंच महाभूतों के स्थूल रूपों का विशेष अनुभव होता है किन्तु साधक के लिये यह भी एक चमत्कार की चीज होती है क्योंकि साधक ने अन्तर्दृष्टा होकर के इस प्रकार के दृश्य भी अभी तक कभी नहीं देखे थे। अतः इस समाधि में भूमण्डल के सभी दृश्यों का साक्षात्कार हो जाता है। इसके बाद जब योगी दूसरी श्रेणी में प्रवेश करता है त्यों ही साधक को देवलोक आदि का अनुभव होने लगता है और जब साधक का अभ्यास इतना ऊँचा बढ़ जाता है कि वह बुद्धि की सूक्ष्म गतियों को देखने वाला बन जाता है तो वह आनन्दानुगत योग में प्रवेश कर जाता है। आनन्दानुगत योग में स्थूल और सूक्ष्म दृश्यों को छोड़ता चला जाता है एवं बुद्धि की गहर गुफा में प्रवेश करता है और बुद्धि सत्व के प्रभाव से आनन्द ही आनन्द हर समय प्राप्त करता रहता है। परमात्मा के अखंड मण्डलाकार व्याप्त तेज में लय रहने लगता है उस समय में वह आदि गुरु जो व्यापकत्वेन प्राणी मात्र में ओत प्रोत रहता है वह उस साधक की स्थिति को उत्तरोत्तर दृढ़ बनाता रहता है और अभ्यास करते–करते एक दिन ऐसा समय आ जाता है कि साधक अस्मि प्रत्यय का अधिकारी बन जाता है। यहाँ से ही अस्मितानुगत योग का प्रारम्भ होता है। साधक के रोम–रोम से प्रकाश की धाराएँ निकलने लगती हैं। विशुद्ध सत्व का उदय हो जाता है। जब साधक की इस प्रकार की स्थिति आ जाये तो समझ लेना चाहिए कि साधक के हृदय में परम् सत्व पूर्ण का उदय हो रहा है। पढ़िये जगदात्मा श्री कृष्ण के शब्दों में–

सर्वद्वारेषु देहेस्मिन् प्रकाश उपजायेत ज्ञानम यदा तदा विद्यात् विवृद्धम सत्वमित्युत।

अर्थात् साधक जिस समय अपने सारे शरीर के सभी द्वारों में रोम कूपकों तथा प्रकाश ही प्रकाश का अनुभव करता है तो समझ लेना चाहिए कि वह स्फुट प्रज्ञालोक का अधिकारी बन गया है। यही अस्मितानुगत योग है। इसमें सुप्रतिष्ठ हुआ योगी अस्मितानुगत योग का विद्यार्थी कहलाता है। इस योग के अभ्यासी साधक को निरंतर अभ्यास करने पर प्रज्ञाविवेक प्राप्त हो जाता है। उस प्रज्ञाविवेक में उसकी बुद्धि ऋतु को धारण करने लगती है। भगवान् पतञ्जलिदेव आदेश करते हैं–

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।। तस्मिन् समाहित चित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति सञ्ज्ञा भवति, अन्वर्था च सा, सत्यमेव विमर्त्ति न तत्र विपर्या सगन्धोऽप्यस्तीति तथा योक्तम्–

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।

अर्थात् योगी को इस अभ्यास काल में प्रज्ञाविवेक के निर्मल होने के बाद स्वभाव से ही ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा आगम, अनुमान एवं ध्यानाभ्यास तीनों प्रकार

से तथा नाम तथा गुण वाली होती है अर्थात् ऋतम्भरा स्थित योगी का अनुमान भी सत्य आधारित है। आगम प्रमाण उसकी सत्य की पुष्टि करता है एवं उसका ध्यानाभ्यास सत्य को अनुभव करने वाला बन जाता है। वह जो कुछ सुनता है सत्य सुनता है जो भी वह देखता है सत्य देखता है उसकी प्रत्येक हरकत में सत्य वास करने लगता है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्य सभी प्रकार के संस्कारों को कुचल कर स्वयं सुप्रतिष्ठ हो जाती है। भगवान् पतञ्जलिदेव आज्ञा करते हैं–

तज्जः संस्कारोऽस्य संस्कार प्रतिबन्धी।

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा प्रादुर्भूत संस्कार अन्य व्युत्थानादि के संस्कारों को बिल्कुल रोक देते हैं। देखिये व्यास भाष्य–

समाधि प्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थान संस्काराशयं बाधते व्युत्थान संस्काराभिभवात् तत्प्रभवा प्रत्यया न भवन्ति, प्रत्यय निरोधे समाधिरुपतिष्टते, ततः समाधि प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो जायते। ततः प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति, कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति? न ते प्रज्ञा कृताः संस्काराः क्लेश क्षयहेतुत्वाच्चित्तमाधिकार विशिष्टं कुर्वन्ति, चित्त हि ने स्वकार्यादव सादयन्ति, ख्याति–पर्य्यवसानं हि चित्त चेष्टितमिति।।

अर्थात् समाधि प्रज्ञा के संस्कार व्युत्थान संस्कारों को रोकते चले जाते हैं। व्युत्थान संस्कारों के दब जाने से उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान नहीं होते और उन बाधक रूप प्रत्ययों के दब जाने से समाधि प्रज्ञा पुष्ट होती रहती है और इसी प्रकार समाधि प्रज्ञा के पुष्ट हो जाने पर समाधि प्रज्ञा सम्बन्धी नये–नये संस्कार पैदा होते रहते हैं। समाधि प्रज्ञा और उसके संस्कार चित्त के अधिकार को समाप्त कर देते हैं। यह समाधि प्रज्ञा के संस्कार क्लेश क्षय के कारण भूत होते हैं अतः चित्त को अधिकार रहित कर देते हैं। क्योंकि चित्त का अधिकार विवेक ख्याति पर्यन्त ही है उसके बाद चित्त का अपने कारण भूत गुणों में अवस्थान हो जाता है। यहाँ पर ऐसी स्थिति में ही योगी को समाधि प्रज्ञा के द्वारा अस्मि प्रत्यय का उदय हुआ करता है। वह अस्मि प्रत्यय भी समाधि प्रज्ञा जनित एक संस्कार ही है। ऐसी स्थिति में योगी अनुभव करता है। अस्मि अस्मि 'अहमेवास्मि' हूँ हूँ, यह सब कुछ मैं ही हूँ। 'मयि सर्वम् इदम् प्रोत' यह सारा विश्व मेरे अन्दर ओत–प्रोत है। आत्मत्वेन प्राणीमात्र के अन्दर मैं ही हूँ एवं यह सारे संसार के प्राणी मेरे ही तेजांश होने से मुझ में है ऐसा युक्तयोगी अनुभव करता है। पढ़िये भगवान् जगदात्मा श्रीकृष्ण के पवित्र वाणी–

सर्व भूतस्थमात्मानं सर्व भूतानिचात्मानि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः

प्राणी मात्र के अन्दर अपने आपको और अपने आप के अन्दर प्राणीमात्र को समदर्शन भाव में स्थित युक्त योगी ही देख सकता है। अन्य किसी और की इस प्रकार के गति नहीं होती। यह अस्मि प्रत्यय समाधि प्रज्ञा का अन्तिम संस्कार है। यह संस्कार अपना काम करके जब स्वयं समाप्त हो जाता है तब साधक निर्बीज समाधि को प्राप्त करता है। इस समाधि प्रज्ञा के प्राप्त हो जाने पर योगी अपने संकल्प मात्र से अपने चित्त का निर्माण कर डालता है और यह निर्माणित चित्त एक ही समय में अपने प्रधान चित्त के अधीन रहकर अनेक संस्कारों को ग्रहण कर लेते हैं। प्रवृत्ति भेद से एक प्रधान चित्त ही अनेक चित्तों का प्रेरक बन जाता है। यह प्रधान चित्त ध्यानज

होता है अतः इसमें राग द्वेष आदि की प्रवृत्ति नहीं रहती है एवं इसका पाप पुण्य आदि से भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतः क्षीण वृत्ति होने से पाप–पुण्यादि रहित होकर अन्य निर्माणित चित्त आदि का प्रेरक रहता है। निर्माणित चित्त जिन–जिन चित्तों से संस्कार स्थापित करता है उनके संस्कारों को तत्काल जान लेता है। और उन–उन आत्माओं से होने वाले संस्कार भोग को वहीं पर भोग कर तत्काल खत्म कर देता है। एक उदाहरण–

अपने बचपन काल में एक ब्रह्मचारी श्री वृन्दावन में निवास करते थे। वे ब्रज भूमि में इतस्ततः भ्रमण करते रहा करते थे एवं भजनानन्दी महात्माओं से मिलते रहते थे। उनका एक बार एक अवधूत महात्मा से मिलाप हुआ। ब्रह्मचारी योग निष्ठ थे उनके हृदय में योग सिद्धान्त अपना घर कर चुके थे। उनके हृदय से योग के अमर सिद्धान्त को एवं योग निष्ठा को कोई हटा नहीं सकता था। अपने इस भ्रमणकाल में वह श्री राधिका जी की जन्मस्थली बरसाना गांव गये। ब्रज में भ्रमण करने वाले साधकों ने देखा होगा कि गहवर वन में महात्मा किशोरीदास जी भण्डारी के स्थान से ऊपर की ओर एक जयपुर नरेश के मन्दिर के नीचे की ओर एक रास मण्डल बना हुआ है। उसी रास मण्डल पर इन ब्रह्मचारी जी की एक पहुँच वाले महात्मा से भेंट हुई। वह महात्मा अच्छी पहुँच वाले सिद्ध पुरुष थे किन्तु बहुत हठी स्वभाव के व्यक्ति थे। ब्रह्मचारी जी का और उन महात्मा का शनैः–शनैः प्रेम बढ़ता गया। वह महात्मा भी योगी थे किन्तु उनकी बातचीत के व्यवहार से वे साधारण अनपढ़ व्यक्ति मालूम पड़ते थे। यह कोई कह नहीं सकता था कि उनका आत्मिक विकास कितना, कैसा और क्या है। कुछ दिनों के बाद वह महात्मा और श्री ब्रह्मचारी जी श्री वृन्दावन धाम चले आये। परस्पर अनेक प्रकार के प्रकरण चलने लगे। शनैः–शनैः ब्रह्मचारी जी ने अपने गुरुदेव श्री प्रभुजी (योग–योगेश्वर प्रभु श्रीरामलाल जी महाराज) का कुछ जिक्र किया तो वह महात्मा कुछ चिढ़ से गये और कहने लगे कि यदि तुम कहो तो हम तुम्हारे गुरुदेव योग–योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी को एक क्षण में यहाँ खींच सकते हैं। ब्रह्मचारी जी पहले तो उनकी बातें सुनते रहे किन्तु बाद में मन में कुछ रोष पैदा हो गया और उन्होंने उस महात्मा से कहा कि यदि तुम्हारे अन्दर यह शक्ति है तो हमारे गुरुदेव प्रभु योग–योगेश्वर श्री रामलाल जी को खींच कर दिखलाओ ताकि मैं भी जान सकूँ कि तुम्हारे अन्दर कितनी योग शक्ति है और तुम क्या–क्या कर सकते हो। श्री ब्रह्मचारी जी के ऐसा कहने पर उस महात्मा ने उत्तर दिया कि अच्छा भाई तुम हमें यह बतलाओ कि हम उन्हें सूक्ष्म से खींचें या स्थूल से। स्थूल और सूक्ष्म का नाम लेने पर ब्रह्मचारी जी तत्काल जान गये कि यह इसका वाग्वि–विलास है। वस्तुतः यह कर कुछ नहीं सकता। ब्रह्मचारी जी उसकी कमजोरी को तत्काल समझ गये और तत्काल उत्तर दिया कि भाई सूक्ष्म से क्या खींचोगे स्थूल से खींचो, ताकि हम तुम दोनों देख लें और आस–पास बैठे रहने वाले अन्य सत्संगी भी देख लेंगे कि यह आकाश मार्ग से एक व्यक्ति स्थूल शरीर से खिंचे हुए आ रहे हैं। किन्तु ब्रह्मचारी जी के बार–बार कहने पर भी वह महात्मा सूक्ष्म से ही खींचने की हठ करने लगे और ब्रह्मचारी जी से हठ करने लगे कि भाई चलो भाई केशी घाट के सामने जमुना जी की रेती में ध्यान से बैठेंगे, वहाँ बैठ कर ही हम सूक्ष्म शरीर से तुम्हारे गुरुदेव जी का आकर्षण करेंगे और किसी से क्या लेना है हम तुम देख ही लेंगे। ब्रह्मचारी जी ने उनकी बात को स्वीकार कर लिया

और केशी घाट के सामने जमुना जी की पवित्र बालुका में जाकर ध्यान में बैठ गये। श्री ब्रह्मचारी जी बतलाते थे कि उन्होंने उस महात्मा को चित्त निर्माण करते देखा और सर्व–समर्थ पूर्ण गुरुदेव योग–योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी की महान अनुकम्पा से ब्रह्मचारी जी ने भी अपने चित्त का निर्माण किया। फलस्वरूप दोनों आत्मा ऋषिकेश योग साधन आश्रम में श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में पहुँचे। उस महात्मा ने श्री प्रभुजी के सामने पहुँच कर अरबी भाषा में कुछ बात की एवं श्री प्रभुजी ने भी उनके प्रश्न का प्रत्युत्तर अरबी भाषा में ही दिया और महात्मा जी को उसके अभिमान पर ताड़ना दी। इतना दृश्य देखने पर दोनों महात्माओं के ध्यान खुल गये और थोड़ी देर पहले जो महात्मा–हठ कर रहा था कि हम तुम्हारे गुरुदेव जी का आकर्षण कर लेंगे, उसने भारी पश्चाताप किया और अपनी भूल स्वीकार करके कहा कि भाई यह तो मेरी भूल ही थी। वह तो स्वयं शुद्ध ब्रह्म हैं। सारे संसार को हर समय खींचे रहते हैं। मैं साधारण साधु उनको क्या खींच सकता था। ब्रह्मचारी जी बतलाते थे कि श्री वृन्दावन में ही हमने चित्त निर्माण को समझा एवं निर्माणित चित्त की उपयोगिता को जाना।

श्री प्रभुजी एवं निर्माण चित्त

मैंने अपने इस लेख का शीर्षक योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी और निर्माणित चित्त रखा है। श्री प्रभुजी के निर्माण चित्त के विषय में मैं क्या लिखूँ और क्या लिखा जा सकता है। उनके अपने रूप में तो निर्माण चित्त एक खेल की चीज है। उनका साधारण संकल्प साधारण अज्ञानी पुरुषों का भी चित्त निर्माणित कर सकता है। फिर उनके अपने चित्त निर्माण के विषय में तो कुछ कहना बहुत ही अज्ञानता की बात है। किन्तु योग सिद्धान्त अमर है और सदा सत्य है। उन्हीं की सत्यता समझाने के लिए एक छोटी सी घटना लिखकर मैं निर्माण चित्त की स्थिति को समझाने का प्रयत्न करूँगा।

एक बार श्री आनन्दकन्द सद्गुरुदेव एक जगह पर बैठे हुए थे। ध्यान की क्लास लगी हुई थी। साधक समुदाय अपने–अपने ध्यानाभ्यास में रत था। उसी अवस्था में आपने पूर्ण कृपापात्र श्री मुलखराज जी महाराज को आज्ञा दी कि तुम ध्यान में बैठ जाओ, और अपने दृढ़ संकल्प से अपने चित्त का निर्माण करो और हमारे एक–एक चित्त के साथ तुम्हारा एक एक निर्माणित चित्त चले और ध्यान में बैठे हुए सभी साधकों की स्थितियों को अनुभव करे और फिर ध्यान से उठ कर अपने निर्माणित चित्तों से ज्ञान प्राप्त करके हर साधक की स्थिति को हमें बतलाओ ताकि हम जान सकें कि तुम्हारी कितनी, क्या और कैसी योग्यता है। श्री प्रभुजी की आज्ञा को पाकर के श्री मुलखराज जी महाराज ने वैसा ही किया एवं ध्यान से उठ करके प्रत्येक साधक की ध्यान भूमिकाओं को श्री प्रभुजी के सामने बतलाया। जो कुछ श्री मुलखराज जी महाराज ने बतलाया वह सब कुछ अधिक मात्रा में सत्य था। इसी प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण हैं जहाँ–जहाँ श्री प्रभु जी अपने बच्चों को चुपाचुपी के व्याख्यान दें। यह सभी प्रकार की विद्यायें निर्माण चित्त के द्वारा समझाया करते थे और प्रत्येक साधक पूरी तरह समझता था। यह है हमारी योग रूपी अमर निधि जिस को जानकर मनुष्य सर्वज्ञाता बन जाता है। शक्ति को पाकर अमर हो जाता है।

भ्रमर – जप

भ्रमर के गुञ्जारव की तरह गुनगुनाते हुए जो जप होता है वह भ्रमर–जप कहाता है। किसी को यह जप करते देखने-सुनने से इसका अभ्यास जल्दी हो जाता है। इसमें होठ नहीं हिलते, जीभ हिलाने का भी कोई विशेष कारण नहीं। आँखें झपी रखनी पड़ती हैं। भ्रूमध्य की ओर यह गुञ्जारव होता हुआ अनुभूत होता है। यह जप बड़े ही महत्त्व का है। इसमें प्राण सूक्ष्म होता है और स्वाभाविक कुम्भक होने लगता है। प्राणगति धीरे–धीमी होती है, पूरक जल्दी होता है और रेचक धीरे–धीरे होने लगता है। पूरक करने पर गुञ्जारव आरम्भ होता है और अभ्यास से एक ही पूरक में अनेक बार मन्त्रावृत्ति हो जाती है। इसमें मन्त्रोच्चार नहीं करना पड़ता। वंशी के बजने के समान प्राणवायु की सहायता से ध्यानपूर्वक मन्त्रावृत्ति करनी होती है इस जप को करते हुए प्राण–वायु से ह्रस्व–दीर्घ कम्पन हुआ करते हैं और आधार–चक्र से लेकर आज्ञाचक्र तक उनका कार्य अत्यधिक रूप से क्रमशः होने लगता है। ये सब चक्र इससे जाग उठते हैं शरीर पुलकित होता है। नाभि, हृदय कण्ठ, तालु और भ्रूमध्य में उत्तरोत्तर अधिकाधिक कार्य होने लगता है। सबसे अधिक परिणाम भ्रूमध्य भाग में होता है। वहाँ के चक्र के भेदन में इससे बड़ी सहायता मिलती है। मस्तिष्क में भारीपन नहीं रहता। उसकी सब शक्तियाँ जाग उठती हैं। धारणाशक्ति बढ़ती है प्राक्तन स्मृति जागती है। मस्तक, भालप्रदेश और ब्रह्मरन्ध्र में उष्णता बहुत बढ़ती है। तैजस परमाणु अधिक तेजस्वी होते हैं और साधक को आन्तरिक प्रकाश मिलता है। बुद्धि का बल बढ़ता है। मनोवृत्तियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं। नागस्वर बजाने से साँप की जो हालत होती है वही इस गुञ्जारव से मनोवृत्तियों की होती है। उस नाद में मन स्वभाव से ही लीन हो जाता है और उस नादानुसन्धान का जो बड़ा काम है वह सुगम हो जाता है। 'योगतारावली' में भगवान श्री शंकराचार्य कहते हैं कि भगवान श्रीशंकर ने मनोलय के सवा लाख उपाय बताये, उनमें नादानुसंधान को सबसे श्रेष्ठ बताया। उस अनाहत संगीत को श्रवण करने का यत्न करने के पूर्व भ्रमर–जप सध जाय तो आगे का मार्ग बहुत ही सुगम हो जाता है। चित्त को तुरन्त एकाग्र करने का इससे श्रेष्ठ उपाय और कोई नहीं है। इस जप से साधक को आध्यात्मिक शक्ति है। शान्त समय में यह जप करना चाहिए। इस जप से यौगिक तन्द्रा पड़ती जाती है और फिर उससे योगनिद्रा आती है। इस जप के सिद्ध होने से आन्तरिक तेज बहुत बढ़ जाता है और दिव्य–दर्शन होने लगते हैं, दिव्य जगत् प्रत्यक्ष होने लगता है, इष्टदर्शन होते हैं, वृत्तान्त होते हैं और तप का तेज प्राप्त होता है। कविकुलतिलक कालिदास ने जो कहा है–

शमप्रधानेषु तपोधनेषु, गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।

बहुत ही ठीक है– "शमप्रधान तपस्वियों में (शत्रुओं को) जलाने वाला तेज छिपा हुआ रहता है।"

SIDDHYOG Postal Regd. No. Agra 19/18-20

DECEMBER 2018

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री

अनित्यानि शरीराणि विभवोनैव शाश्वत:।
नित्यं सन्निहितो मृत्यु: कर्तव्यो धर्म संग्रह।।
(चाणक्य नीति)

हमारा शरीर नाशवान है, धन सम्पदा आनी-जानी है सदा रहने वाली नहीं है, मृत्यु हमेशा सिर पर मंडराती रहती है। अत: हमारा कर्तव्य है कि धर्म का संग्रह (आचरण) करें।